PRABODH-CHANDRODAYA

A SPIRITUAL DRAMA

TRANSLATED FROM THE SANSKRIT

BY

MAHESH CHANDRA PRASAD, M. A.

प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक

श चन्द्र प्रसाद, एम० ए०

श्रीमत्कृष्ण मिश्र यति

प्रणीत

प्रबोध-चन्द्रोदय

नामक संस्कृत नाटक का

हिन्दी अनुवाद

"संस्कृत-साहित्य का इतिहास", "स्वदेश-सतसई", "जातक-माला", "हिन्दू-सभ्यता", "भारत-भाग्योदय", "भारतेश्वर का सन्देश," "शोक-संगीत", प्रभृति के

लेखक,

पटना निवासी

महेश चन्द्र प्रसाद, एम.ए. (संस्कृत); एम.ए. (हिन्दी)

द्वारा

रचित और प्रकाशित

प्रथम संस्करण,
१,०००

१९३५

मूल्य
॥)

पुस्तक मिलने का पता—

महेश चन्द्र प्रसाद, एम.ए.

देवाश्रम, आरा, (इ.आइ.आर.)

मुद्रक

बाबू देवेन्द्र किशोर जैन,

श्रीसरस्वती प्रिंटिङ्ग वर्क्स, आ

भूमिका

अनन्त धन्यवाद है उस अनन्त अखिलान्तरात्मा को जिसकी अनुकम्पा से आज मुझे इस पुस्तक की भूमिका लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अब, जनता के आशीर्वाद का आकाङ्क्षी होकर, कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख करता हूँ।

मूल-ग्रंथ का परिचय

मूल-ग्रन्थ बड़े ही महत्व का है। संस्कृत-साहित्य में इसका आसन अतीव ऊँचा है। यह वैष्णव-धर्म्म के माहात्म्य को बड़े ओज के साथ निर्देश करता है। इसमें महामोह, काम, क्रोध, लोभ, मन, विवेक, वैराग्य, सन्तोष, विष्णु-भक्ति, सरस्वती, श्रद्धा, शान्ति इत्यादि नाटक के पात्र हैं। इस नाटक में ६ अङ्क हैं, जिनमें पहले तीन में उस समय के दुश्चरित्र का चित्र खींचा गया है। महामोह अपने अनुयायियों के साथ काशी का राजा बन कर आता है और विवेक को देश से निकाल देता है। पर अन्त में विवेक निज प्रबल सेनापतियों—वस्तुविचार, सन्तोष, क्षमा आदि के बल से महामोह को दल समेत दलन कर विजय प्राप्त करता है। विषयों का वर्णन बड़ा मनोहर और प्रभावशाली है। नैतिक और धार्मिक उपदेश कूट-कूट कर भरे हैं। इस ग्रन्थ से यह पता चलता है कि चन्देल के राजा कीर्त्तिवर्म्मा ने चेदि के अधिपति कर्णदेव को समर में पराजित किया था। कीर्त्तिवर्म्मा का समय

मैकडौनल साहब के मत से ईसवी सन् १०५० से १११६ पर्य्यन्त है। इस सद्ग्रन्थ के पूज्य प्रणेता स्वनामधन्य श्रीकृष्ण मिश्र जी इसी राजा के सभासद् थे। अतः इसका ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में—आज से लग भग साढ़े आठ सौ वर्ष पहले—प्रणयन होना प्रमाणित है। टेलर साहब, जिन्होंने इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है, लिखते हैं कि ग्रन्थकार का निवास तिहुंत, और हिन्दुस्तान को नेपाल से पृथक् करने वाली पर्वत-श्रेणी के मध्य-स्थित वर्त्तमान् "मकवनी" नामक स्थान में था।

ग्रन्थ का विषय।

इस नाटक में वेदान्त-दर्शन का दिग्दर्शन है। वेदान्त उपनिषदों के सिद्धान्तों को नियमबद्ध कर यथोचित रूप से वर्णन करता है। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि आत्मा और परमात्मा एक अर्थात् अभिन्न हैं। एकमात्र केवल ब्रह्म की स्थिति का मण्डन और समर्थन करने के कारण इसको अद्वैतवाद भी कहते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष में भांति-भाँति की प्राकृतिक दृश्य और आत्मायें देखने में आती हैं। इन सब असत्य भावनाओं का एकमात्र कारण अविद्या—ज्ञान का अभाव—है, जो आत्मा को ऐसा समझने से रोकती है कि यह संसार केवल माया का जाल है। वेदान्ती को जगत् मृग-तृष्णिकावत् भासता है और वही अज्ञानी को सत्य प्रतीत होता है। अस्तु, सच्चा ज्ञान प्राप्त होने से ही माया का नाश हो जाता है। निर्वाण के निमित्त ज्ञान की प्राप्ति सांसारिक अनुभवों द्वारा

नहीं हो सकती—इस विषय का पूरा विवरण वेद के ज्ञान-काण्ड में अर्थात् उपनिषदों में प्रकट रूप से वर्त्तमान है। इस प्रकार के ज्ञान द्वारा आत्मा और परमात्मा के बीच जो भेद-भाव विद्यमान है उसका लोप हो जाता है और मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। व्यासकृत ब्रह्मसूत्र में वेदान्त के समस्त सिद्धांत वर्णित हैं। इस पर दो टीकायें भी मौजूद हैं—एक तो श्रीमच्छंकराचार्य कृत और दूसरी श्री स्वामी रामानुजाचार्य रचित। श्रीमद्भगवद्गीता इसी वेदान्त पर अवलम्बित है। वेदान्त इस समय हिन्दू-धर्म्म का मूलमंत्र हो रहा है। इसी के भावों से हम प्रायः भावित रहते हैं। टेलर साहब ठीक ही कहते हैं कि—

"It has a powerful influence in forming the mind and character of millions."

परन्तु ग्रंथ में वेदान्त जैसे जटिल विषय का किस सुगम रूप से प्रतिपादन हुआ है इसके विषय में उक्त टेलर साहब कहते हैं—

"He, then, propounds the problems of the Vedanta Philosophy in a most simple manner, so that they might be understood and grasped by even persons of little education."

विषय-विलास और अनीश्वरवाद को रोकने के ही लिये इस नाटक का निर्म्माण हुआ था और इसका—इस मानसिक रोगों क अचूक औषधि का—आशातीत आदर हुआ। उक्त महोदय लिखते हैं—

"To check the strong current of materialism by a popular agency he wrote the work in the

form of a drama, illustrative of the nature and action of the mind, with its good and bad passions in play. It produced the desired effect, and became so popular that its fame spread far and wide. It attracted the attention of the King of Magadh, who, with his Pandits and courtiers travelled to Maithila *Desha* to witness the representation of the Drama."

श्रीमच्छंकराचार्य जी का कथन है—

कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।
ज्ञान-रत्नापहाराय तस्माद् जाग्रत जाग्रत ॥

भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं—

संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति-विभ्रमः ॥
स्मृति भ्रंशात् बुद्धि-नाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति ॥

अर्थात् काम, क्रोध, मोह के आवेश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है। इसी सर्वनाश से बचने का उपाय इस नाटक में है।

टीकायें और अनुवाद

ग्रन्थ जब बहुत ही विख्यात होता है तभी उस पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता होती है। "प्रबोध-चन्द्रोदय" की प्रसिद्धि के प्रमाण-स्वरूप इसकी दो टीकायें वर्त्तमान हैं—एक तो नाण्डिल्ल गोप मन्त्रि शेखर विरचित "चन्द्रिका व्याख्या" और दूसरी रामदास दीक्षित कृत "प्रकाशाख्य व्याख्या"।

इतना ही नहीं। इसका अनुवाद अंग्रेजी में भी किया गया है और वह बम्बई की सरकारी सेना के एक अंग्रेज़ डाक्टर द्वारा। आप का शुभ नाम है J. Taylor, M. D. यह अनुवाद बम्बई के तत्कालीन लाट Sir James Mackintosh की प्रेरणा से सन् १८११ ईसवी में, अर्थात् आज से सवा सौ वर्ष पहले, किया गया था और उन्हीं लाट महोदय को समर्पित हुआ था।

संवत् १८४६ में अर्थात् आज से १४५ वर्ष पहले कविवर गुलाब सिंह जी द्वारा व्रज-भाषा में इसका अनुवाद हुआ था जिसको पंडित गुरुप्रसाद उदासीन ने हाल ही में गुरुमुखी अक्षरों से देवनागरी लिपि में उतारा है, और जो "श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस" बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत अनुवाद

उपर्युक्त अनुवाद आदि से अन्त तक बिलकुल पद्य में है, जिस कारण नाटक का स्वरूप सर्वथा लुप्त हो गया है। पुनः, उक्त अनुवाद एकदम स्वतन्त्र रूप से किया गया है जिससे मूल ग्रन्थकार का आशय कितने ही अंशों में बदल सा गया है। इन बातों के रहते हुए भी अनुवाद बहुत ही सरस हुआ है। परन्तु जब हिन्दी-कविता की भाषा की दो धारायें बह रही हैं, तब व्रजभाषा के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली में भी एक अनुवाद का होना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ। हिन्दी-शब्दसागर के सहायक संपादक श्रीयुत रामचन्द्र वर्म्मा

का विचार है कि "हिन्दी पाठकों को संस्कृत नाटकों का रसास्वादन कराने का काम बहुत ही महत्वपूर्ण है और उसमें जितने ही लोग योग दें, उतना ही अच्छा है।"(श्री रामदास राय रचित 'मुद्रा राक्षस')

अनुवाद का खयाल तो आया पर जी डरा और यह डर पांच वर्षों तक बना रहा। डर यही था कि अनुवाद तो करूं पर कहीं ऐसा न हो कि लोग उसको देख कर काँप उठें! किन्तु अन्त में धार्म्मिक प्रेरणा ने ज़ोर पकड़ा और मैं कमर कस कर, साहस धर कर, अनुवाद-रचना के कठिन कार्य्य के लिये तयार हो गया, और महाकवि Shakespeare की "Fools rushing where the wise fear to tread" वाली कहावत को चरितार्थ करने लगा। प्रस्तुत अनुवाद उसी मूर्खता का प्रत्यक्ष स्वरूप है।

काम, क्रोध और लोभ इत्यादि से ही संसार के अधिकांश आधि-व्याधि और रोग-शोक निस्सृत हैं। कौन दिन हमें इनके भीषण रूप का दर्शन समाचार-पत्रों में नहीं मिलता? कारावास, कालापानी और फाँसी तक के जो कठोर दण्ड देखने में आते हैं वे इन्हीं उद्दण्ड और प्रचण्ड शत्रुओं की करामात हैं! बाहर का सारा संसार उतना अपकार नहीं कर सकता जितना भीतर का एक शत्रु। और कहीं जो ऐसे शत्रु एक से अधिक हुए तो बस सारा क़िस्सा ख़तम है!

महात्मा तुलसीदास जी अपनी "विनय-पत्रिका" में लिखते हैं—

जौं मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।

तौ तजि विषय-विकार, सार भजु, अजहूं जो मैं कहौं सोइ करु॥

सम, सन्तोष, बिचार बिमल अति, सतसगति, ये चारिदृढ़करिधरु।
काम, क्रोध अरु लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष निसेष करि परिहरु॥

अतएव सम, सन्तोष, विचार और सत्संगति के दृढ़ धारण तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग और द्वेष के निःशेष परिहरण के अर्थ, अर्थात् विचार—प्रबोध—द्वारा मोह के निराकरण के निमित्त किसी सरस साधन का प्रयत्न किया जाय तो वह सदा समुचित समझा जायगा।

पुनः वर्त्तमान् काल के चतुर विद्यार्थी बहुधा चार्वाक के अनुयायी से प्रतीत होते हैं। उन को इसका स्मरण नहीं रहता कि, "Materialism has always been the strongest foe of religion, which is the consciousness or realization of man's relation with his Originator, and the expression of this relation in human conduct" (Speech on "Religion and Education" by M. M. Zainul-Eba, M. A., Head master, Hussainabad High School, Lucknow). शिक्षा के उद्देश्य से वे कहां तक अलग हैं, यह हम तभी समझ सकेंगे, जब हम शिक्षा के यथार्थ उद्देश्य पर ध्यान दें। यह उद्देश्य महानुभावों के मतानुसार इस प्रकार का है—

J. J. Findlay साहब अपने "Foundation of Education" में लिखते हैं कि, "There is only one aim in education, *i.e.*, the nurture of the human spirit". Welton साहब अपने "What do we mean by Education ?" में लिखते हैं—"The ultimate aim of education is the perfect organization of

life under one great ideal, which is found only in a relation to that highest good and true personality which we call God." अमेरिका के प्रख्यात लेखक Emerson साहब का कहना है कि कोई भी अपने को सु-शिक्षित नहीं कह सकता है जब तक वह अपने जी में ऐसा न समझता हो—" Virtue ! I am thine. Save me, use me. Thee will I serve, day and night, in great, in small, that I may not be virtuous, but virtue " शिक्षा के प्रधान सुधारक Herbart Spencer साहब का मत है कि, " The one and whole work of education may be summed up in the concept—Morality."

Vives का कथन है कि, " He who knows none of the arts, but yet has a practical knowledge of virtue, and has formed and ordered his life by its rules, is so far from being blamed that he is deserving of praise. On the other hand, he is worthy of ignominy and dishonour who is learned and instructed in human arts, but is destitute of virtue " एक विख्यात मुसलमान शिक्षक का कहना है कि, " To fly across the air is no miracle, because the dirtiest flies do it. To cross the river without a bridge or a boat is no miracle, for a blind terrier can do it. But to arrest anguish or human thought can be done only by cultured souls."

अंग्रेज, अमेरिकन और मुसलमान विद्वानों के बाद अब एक प्रसिद्ध हिन्दू दार्शनिक का भी सिद्धान्त सुन लीजिये। Sir S. Radhakrishnan, जो सन् १९३० ई० के बनारस में होनेवाले

थम All Asia Educational Conference के सभापति थे, अपने सभापति के आसन से इस प्रकार कहते हैं—

"Intellectual efficiency, physical development—all these things are quite important. But, much more important than these is the culture of the soul. It is the tilling, the cultivation of your inner life, it is the training of your emotions... If your emotions are low, if your hearts are corrupt, however learned you may be you are essentially coarse, ignorant, earth-bound, blind of soul, you are not a cultured man."

"There is some thing deeper than intellect, deeper than the body—The Real Self which is the Highest........To enable you to understand that Fundamental Spirit has been the aim of true education."

ऐसी अवस्था में, अठारह वर्षों से शिक्षक का काम करते आने पर, यदि छात्रों के आध्यात्मिक उत्थान—उनके वास्तविक कल्याण—के निमित्त कोई सुगम और सरस साधन उपस्थित करूं तो वह उपहासास्पद नहीं होगा। आप कह सकते हैं कि इस नाटक के तीसरे अङ्क में तो शृङ्गार की भरमार है, फिर कल्याण-साधन कैसे हो सकता है? उत्तर में नम्र निवेदन है कि यह नाटक शान्त-रस प्रधान है। अन्य रसों के साथ शृङ्गार को भी उचित स्थान प्राप्त है; पर, हाँ, अनुचित समझ कर। महाकवि कालिदास की "शकुन्तला" पर और विशेष कर उसके तृतीय अङ्क के "अनाविद्धं रत्नं" इत्यादि बातों पर, जो शकुन्तला के संबंध में

कही गई हैं, तनिक दृष्टिपात करें। यहाँ शृङ्गार दूषण नहीं माना गया और लाभ के लोभ से ग्रंथ—क्या संस्कृत और क्या हिन्दी—छात्रों के हाथ में दे डाला गया है। पुनः, महाकवि विशाखदत्त विरचित "मुद्राराक्षस" नाटक की कूटनीति से कौन अनभिज्ञ है? तो भी हितकर समझ कर—क्या मूल और क्या अनुवाद—यह छात्रों के हाथ में रख छोड़ा गया। यहाँ तो बात ही दूसरी है। शृङ्गार की दूषित भाव-भावनाओं के निवारणार्थ ही उनका वर्णन है! रोग को उभाड़ कर उसे जड़ से उखाड़ने की सी चेष्टा है। और इस चारु चेष्टा में मूल-लेखक श्रीकृष्ण मिश्र जी सम्यक् सफल भी हुए थे—वह अपने परम विषयी छात्र को इस नाटक के बल से सन्मार्ग पर ला सके थे, अध्यात्म विद्या का यथोचित ज्ञान दे सके थे, जैसा कि संस्कृत "प्रबोध चन्द्रोदय" के सम्पादक विद्वद्वृन्द शिरोमणि श्री वासुदेव शर्म्मा जी अपनी प्रस्तावना में लिखते हैं—

"........मुमुक्षोऽपि पूर्वतनानन्त भवाभ्यस्त वैषयिक विलास वागुरा ग्रथित स्वान्ततयाध्यात्म विषय पराङ्मुखः केवलं काव्यालङ्कार नाटक गत शृङ्गारादि विषयेष्वेवाविश्रान्तःकरण आसीत्। तदवबोधयिषा मिषेण वेदान्त सिद्धान्तोद्घाटनपुरः सरं परम कारुणिकेन प्रस्तुत कवि धुरीणेदं नाटकं सरस रसिक चेतो हारि निखिल नाट्य गुण मण्डितमपि जीवन्मुक्तिपर्यवसायि निर्माय विषयिणं छात्र मुद्बुद्ध प्रबोधं संपाद्यानुपम कवि चातुरी विशदी कृतेत्यलं प्रशस्त प्रशंसया।"

हम लोग बालपन से ही कैसे बिगडे रहते हैं। इस पर क्या (क) शंकराचार्य, क्या (ख) तुलसीदास और क्या (ग) कबीरदास सभी शोक प्रकट करते आये हैं। यथा,

(क) बालस्तावत्क्रीड़ासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणी रक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥

(ख) खेलत खात लरिकपन गो चलि,जौवन जुवतिन लियो जीति।
रोग-बियोग-सोग-स्रम-संकुल बड़ि वय वृथहि अतीति॥
राग-रोष-इर्षा-बिमोह बस रुची न साधु समीति।
कहे न सुने गुन-गन रघुबर के, भइ न राम पद प्रीति॥

(ग) रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय!॥

अस्तु, अन्य नाटकों से, अध्यात्म-तत्त्व के सन्निवेश के कारण, इसकी उत्तमता एवं उपादेयता कहाँ तक बढ़ी-चढ़ी है विज्ञ वाचक वृन्द स्वयं अनुमान कर सकते हैं। पर हां, इसका श्रेय मूल-लेखक को है, न कि मुझको।

तीसरे अङ्क में मुझे कुछ उलट-फेर करना पड़ा है। इस समय एकता की तूती बोल रही है। ईसाई, मुसलमान, यहाँ तक कि मेहतर को भी अपनाया जा रहा है। ऐसी अवस्था में, उक्त अङ्क का यथातथ्य अनुवाद प्रकाशित करना धार्मिक द्रोह फैलाना होता। "प्रबोध चन्द्रोदय" के उत्तर में श्रीवादि चन्द्र सूरि कृत "ज्ञान सूर्य्योदय" नामक संस्कृत नाटक—जिसका हिन्दी अनुवाद बम्बई के "हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्य्यालय" के अध्यक्ष श्रद्धेय

श्री नाथूराम प्रेमी जी ने किया है—लिखा जा चुका है।

पुनः, जब हमारे हिन्दू धर्म्म में ही पतित से पतित पुरुष विद्यमान् हैं, तब हम अपने फोड़े को न देख कर दूसरे की फुंसी निहारें यह सर्वथा अनुचित है। और कहीं जो रोग-रहित अङ्ग को रोग-युक्त माना गया तो और भी अनर्थ हुआ! अतएव मूल-ग्रन्थ में जैन और बौद्ध के सम्बन्ध में कही गई बातों का सम्बन्ध कापालिक के अतिरिक्त एक नवीन कल्पित पात्र "महंत" से करा दिया गया है। "रामचन्द्रिका" में महाकवि केशव दास जी लिखते हैं—

लोक करेउ अपवित्र वहि, लोक नरक को बास।
छुवै जो कोऊ मठपती, ताको पुन्य विनास॥

और कहीं जो—

साधु भया तो क्या हुआ, माला पहिरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भँगार॥

महात्मा कबीरदास जी की इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए कोई महंत जी मिले तो फिर कहना ही क्या? कहीं-कहीं महन्त का आचरण कैसा भ्रष्ट है यह लोगों को खूब मालूम है। समाचार-पत्र भी इसके साक्षी हैं। दुर्भाग्य से इस वख्त भी, जब कि मैं यह भूमिका लिख रहा हूँ, भागलपुर के बूढ़ानाथ मन्दिर के महंत को, उनके भ्रष्ट आचरण के कारण, निकालने के लिये जज के इजलास में मुकद्दमा दायर होने का समाचार प्रकाशित हुआ है। ऐसी दशा में मेरी कल्पना कुत्सित नहीं समझी जायगी। मैंने अपने नायक को निन्दा से बचाने का यत्न किया है। अब तो मयङ्क से कलङ्क निकल गया।

शुद्ध, निष्कलङ्क प्रबोध-चन्द्र का उदय होने लगा ! मेरे लिये यह चन्द्र सूर्य्य के सदृश है क्योंकि मुझको तो इसी के आलोक से यत्किञ्चित् आभा प्राप्त करनी है। ख़ास अपनी तो कुछ है ही नहीं।

कई वर्ष हुए, आर्य सूरि की संस्कृत "जातक-माला" के दश चुने हुए बौद्ध जातकों का हिन्दी अनुवाद मैंने प्रकाशित किया था। उसमें प्रायः चालीस तरह के भिन्न-भिन्न छन्दों में मूल-श्लोकों के अनुवाद किये गये थे। यह सभी छन्द ब्रजभाषा में थे। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के विख्यात लेखक तथा धोलपुर राज्य के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर लाला कन्नूमल जी, एम० ए०, ने उक्त अनुवाद की आलोचना करते हुए मुझको लिखा था—

" ...... your rendering in a variety of verses deserves special attention, as it has called forth your best poetic endowments, and given you an opportunity to reveal your sterling qualities as a writer and a poet ..." बस, इसी से प्रोत्साहित होकर मैंने, इस बार, खड़ी बोली में, लगभग ७० प्रकार के भिन्न २ छन्दों में मूल-श्लोकों के अनुवाद किये हैं, यहाँ तक कि अंग्रेज़ी के महाकवि स्पेन्सर के प्रसिद्ध परम मनोहर छन्द (Spenserian stanza) में भी एक श्लोक का अनुवाद किया है, जो हिन्दी के लिये एक बिलकुल नई बात है (देखिये पृष्ठ १०७)। एक तो अनुवाद, उस पर खड़ी बोली, उस पर छन्दों की विभिन्नता ! बस, मेरा कार्य्य अत्यन्त कठु और कठोर हो गया। अतः भूलकर भी ऐसा खयाल नहीं होता है कि इस अनुवाद में भूलें—भयानक भूलें—नहीं हुई हों। अतएव सहृदय पाठक क्षमा करेंगे, और सुझाने की कृपा करेंगे।

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि Pope ने Homer का अनुवाद किया था। अनुवाद को देखकर उस समय के एक विख्यात विद्वान् Bentley ने यों कहा था—"It is a pretty poem, Mr. Pope, but you must not call it Homer." महा-कवि विशाखदत्त कृत "मुद्राराक्षस" के महाकवि हरिश्चन्द्र रचित अनुवाद में भी लोग दोष बतलाते हैं। बात यह है कि ये अनु-वादक स्वयं बहुत बड़े कवि थे। बड़े लकीर के फ़कीर नहीं होते। उनका दिल दासता से दलित होना नहीं चाहता। परतन्त्रता बड़प्पन के प्रतिकूल है। यही कारण है कि इनके अनुवादों में स्वतन्त्रता पाई जाती है। पर, मेरे साथ तो ऐसी कोई भी बात नहीं। इसलिये, मैंने तो अनुचर की तरह दिखलाई हुई लीक पर ही चलने की चेष्टा की है। यदि भिन्नता है—अभिन्नता नहीं आने पाई—तो इसका एक-मात्र कारण है वही अविद्या!

अन्त में, यह सोचकर कि इस पुस्तक में परमात्मा विषयक वर्णन है धड़कते हुए हृदय में कुछ धैर्य्य आ जाता है, क्योंकि—

न तत्पुराणं नहि यत्र रामो यस्यां न रामो न च संहिता सा।
स नेतिहासो नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः॥

—पद्म पुराण

आरा,
होलिकोत्सव— संवत् १९९२।

महेश चन्द्र प्रसाद

नाटक के पात्र-गण ।

सूत्रधार—नाटक का आचार्य
नटी—उसकी पत्नी
विवेक—प्रधान नायक
मति—उसकी पत्नी
वस्तु-विचार—विवेक-किंकर
सन्तोष—उसका सहचर
पुरुष—उपनिषद् का पति
प्रबोधोदय—पुरुष का पुत्र
श्रद्धा—सात्विकी, राजसी, तामसी
शान्ति—विवेक की बहन
करुणा—श्रद्धा की सखी
विष्णुभक्ति—उपनिषद् की सखी
उपनिषद्—वेदान्त-शास्त्र
सरस्वती—विष्णु-भक्ति की सखी
क्षमा—विवेक की दासी
वैराग्य, निदिध्यासन, संकल्प, } मन के पुत्र,
पारिपार्श्वक, पुरुष, सारथि और प्रतिहारी } अन्य पात्र

महामोह—विवेक का शत्रु
चार्वाक—मोह का मित्र
काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, अहंकार, } मोह के अमात्य इत्यादि
मन—संकल्पात्मक
कापालिक—सोम-सिद्धान्त का प्रवर्तक ।
महंत—दुराचारी मठ-पति
मिथ्यादृष्टि—मोह की पत्नी
विभ्रमावती—उसकी सखी
रति—काम की पत्नी
हिंसा—क्रोध की पत्नी
तृष्णा—लोभ की पत्नी
बटु, शिष्य, पुरुष, दौवारिक, } अन्य पात्र

* श्रीगणेशायनमः *

प्रबोध चन्द्रोदय नाटक ।

प्रस्तावना ।

॥ छप्पै ॥

स्त्री—मध्य दिवस रवि-रश्मि बीच जल-वीचि सुहावे ।
अनिल, अनल, जल, नभ-थल त्यों त्रैलोक्य रचावे ॥
जिस प्रभु का अज्ञान, पुनः वह लय को पावे ।
लहे ज्ञान ज्यों भ्रम न हार हर-हार सतावे ॥
अमल और आनन्द-घन, अमल हृदय से गम्य की ।
करते चारु उपासना, हम उस ज्योति सुरम्य की ॥१॥

पुनः—

प्रविश सुषुम्ना ब्रह्म-रन्ध्र-उल्लङ्घन-कारी ।
शान्त स्वान्त में भासमान आनन्द-विहारी ॥
नाश अनृत औ अहङ्कार शुभ ज्ञान प्रसारी ।
जय हो प्रत्यग्ज्योति परम वह जग-तम-हारी ! ॥
योगिराज-भव-भाल-दृग, मिस जो प्रकटित है हुई ।
जग-व्यापी उस ज्योति में, निशि-दिन रति होवे नई ॥२॥

(सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—

बस, बढ़ाने का काम नहीं। सकल सामन्त-समूह की मुकुट-मणियों की किरणों से जिनके चरण-कमलों की आरती होती है, पराक्रमी रिपु-पुञ्जों के वक्षस्थल रूपी कपाट को विदीर्ण कर जो नृसिंह रूप से प्रकट हुए हैं, प्रबल नृप-वंश-विनाश रूपी महार्णव में मग्न हुई मेदिनी के उद्धार करने में जो महा बराह स्वरूप हैं, जिन्होंने निखिल दिग्वधुओं को अपनी कीर्त्ति-लता के पल्लवों के कर्णाभरण पहराये हैं, पुनः समग्र दिग्गजों के कानों के आस्फालन से निकले हुए अनिल के आघात से जिनका प्रताप रूपी अनल नृत्य कर रहा है—ऐसे श्रीमान् गोपाल महानुभाव ने मुझे यह आदेश दिया है—"सहज-सुहृद राजा कीर्त्तिवर्म देव के दिग्विजय के कारण ब्रह्मानन्द के रसास्वादन में हम लोगों को विलम्ब हो गया। विविध विषयों के रसास्वाद से हम लोगों के दिन मानो दूषित रूप से व्यतीत हुए। किन्तु अब हम कृतकृत्य हैं। क्योंकि—

॥ हरि-गीतिका ॥

अवनिप-विपक्ष-महीप-दल-बल निलय-प्राप्त निरेखिये।
अवनी सुख्यात अमात्य-मण्डल से सु-रक्षित लेखिये॥
निधि-मेखला महि में सजा साम्राज्य इनका देखिये।
क्षिति-पालकों की मुकुट-श्रेणी से सु-पूजित पेखिये॥३॥

सो, हमलोग शान्त-रस-प्रधान अभिनय द्वारा अपने को आमोदित करना चाहते हैं। अतएव हमारे परम पूज्य गुरु-देव

श्रीकृष्ण मिश्र जी "प्रबोध-चन्द्रोदय" नाम का जो नाटक निर्माण कर आप को पहले समर्पित कर चुके हैं उसी को आज राजा कीर्त्तिवर्मा के सामने आप खेलें। परिषद् के साथ इन राजा को उसके अवलोकन की उत्कट उत्कण्ठा है।" अच्छा, तो अब घर जाकर घरनी को बुला संगीत का प्रबन्ध करूं। (घूम कर नेपथ्य की ओर देख कर) आर्य्ये! इधर, इधर।

(नटी का प्रवेश)

नटी—मैं आ गई। आर्य्यपुत्र! कौन सा अभिनय किया जाय?

सूत्रधार—आर्य्ये! तुम को तो विदित ही है—

॥ दोहा ॥

रिपु-नृप-बहु-बल-बिपिन में, जिनका बढ़ा प्रताप।
जिसके ज्योति-ज्वाल ने, दिया जगत को झाँप॥
विश्व बीच विख्यात है, जिनकी कीर्त्ति विशाल।
जीते जिनने भूप गण, केवल निज करवाल॥
उन नृपेन्द्र गोपाल ने, क्षितिपति-सुगुण-निधान।
कीरति वर्मा को दिया, पुनि साम्राज्य सुजान॥४॥
पुनः—

॥ सोरठा ॥

अब भी मनुज-कपाल, दनुज-वधू कर धार के।
देतीं सुन्दर ताल, करतीं नृत्य पिशाचिनी॥

व्याकुलता को प्राप्त, परम प्रचण्ड समीर से।
बार-बार रव लायँ, हस्ति-गण्ड-गह्वर सभी॥
कर के विस्तृत नाद, इस प्रकार रण-भूमि सब।
भर के उर आह्लाद, उनके गुण-गण गा रहीं॥५॥

शान्त-पथ में प्रविष्ट उन राजा ने निज विनोदार्थ "प्रबोध-चन्द्रोदय" नामक नाटक का अभिनय करने के लिये मुझे आदेश दिया है। अतः नटों को नट-वेष धारण करने की आज्ञा दे दो।

नटी (विस्मय के साथ)—आर्य्य पुत्र! आश्चर्य! आश्चर्य! जिन्होंने अपने भुज-बल-विक्रम द्वारा सकल राजमण्डल का उस रूप से मर्दन किया, कर्ण-पर्यन्त कठिन कोदण्ड को खींच कर वाणों की वर्षा से—जर्जरित तुरङ्गों की तरङ्ग-माला से समन्वित, निरन्तर छूटते हुए तीक्ष्ण शस्त्रों से विध्वस्त उत्तुंग मातंगों के सहस्रों पर्वतों से परिपूर्ण, निज भुज-दंड रूपी प्रचंड मन्दराचल के अभिघात से घूर्णित निखिल पदाति रूपी सलिल-समूह से सम्पन्न—कर्ण के सेना-सागर का मन्थन कर, जिन्होंने श्रीकृष्ण के सदृश, क्षीर-समुद्र से लक्ष्मी की भांति, समर-विजय-श्री प्राप्त की, उन्हें सम्प्रति समस्त संत-जनों से प्रशंसनीय इस प्रकार की शान्ति कैसे उपलब्ध हुई?

सूत्रधार—आर्य्ये! ब्रह्म की ज्योति स्वभाव से ही सौम्य है। किसी कारण से विकार आने पर भी वह पुनः अपने स्वभाव को प्राप्त होती है। निखिल नरेन्द्र-कुल के लिये प्रलय-कालाग्नि के

मान क्रूर राजा शिशुपाल द्वारा समुच्छेदित चन्द्रवंशीय भूपा
ा आधिपत्य पृथिवी पर स्थिर करने के निमित्त यह प्रक
। देखो—

॥ मालिनी ॥

प्रलय-समय में पा क्षोभ को मारुतों से।
शिखर प्रखर लाँघे सर्व ही पर्वतों के॥
अब फिर स्थिरता सो, स्वच्छता सो सुहाती।
फिर वह मरजादा सिंधु की आज भाती ॥६॥

और भी। भूत-हितार्थ ही ईश्वर के अंश-भूत वैसे पौरु
षशा पुरुष पृथ्वी पर अवतार ले, कार्य्य निष्पादित कर, पु
न्ति प्राप्त करते हैं। यथा, परशुराम को ही तुम देखो—

॥ शोकहर ॥

मार महिप इक्कीस बार मज्जा औ मांस असीम भरी।
प्रचुर-रक्त-सरिता में जिनने स्नान किया, मन-पीर दरी॥
बाल-वृद्ध-वनिता तज, जीवन लेने में था निठुर बड़ा।
नरपति-कंध-कूट कर्त्तन में जिनका कुशल कुठार कड़ा॥७॥

॥ दिग्पाल ॥

वह भी स्व-वीर्य्य-बल से भूभार को हटा के।
प्यारी वसुन्धरा पर नृप-वंश को मिटा के॥
तप से प्रशान्त करके अपनी प्रकोप-ज्वाला।
भृगुनाथ शान्त शोभे, छाई अजब उँजाला! ॥८॥

उसी भांति यह भी कर्त्तव्य पालन कर इस समय परम उप-शान्ति को प्राप्त हुए हैं। जिन्होंने—

॥ रोला ॥

कर्ण नृपति को जीत पराक्रम-बल से नागर।
कीरति वर्मा नृप को अतिशय किया उजागर॥
प्रबल मोह को जीत, मेट तम परम अपावन।
ज्यों विवेक ने उदित किया वर बोध सुहावन॥९॥

(नेपथ्य में)

रे पापी! नराधम! भला हम लोगों के जीते-जागते तू क्यों स्वामी महामोह का विवेक द्वारा पराजय प्रकट करता है?

सूत्रधार—(चौंक कर देखता हुआ)—आर्ये! इधर आओ।

॥ सार ॥

उन्नत-पीन-पयोधर-युग से पीड़ित अंग अनोखा।
रति की पुलकित-भव्य-भुजा से हो आलिंगित चोखा॥
मद से कलुषित नयन-कमल जिसके, अति दृग-सुख-दाता।
महामहिम यह मदन आ रहा, जग को मस्त बनाता!॥१०॥

मेरे वचन से यह क्रुद्ध हुआ सा देख पड़ता है। इस लिये यहां से हट जाना ही हम लोगों के लिये उत्तम है। (दोनों जाते हैं)

पहला अङ्क ।

(काम और रति का प्रवेश)

काम (क्रोध में आकर, "रे पापी" इत्यादि पुनः कह कर)—रे नराधम ! क्या यह बात यथार्थ नहीं है कि—

॥ दोहा ॥

बुध-हिय में भी तबहि तक, शास्त्र-विवेक-प्रभाव ।
नीरज-नयनी का नहीं, जब तक दृग-शर-घाव ? ॥११॥

पुनः—

॥ गीतिका ॥

रम्य हर्म्य, नितम्बिनी नव, भ्रमर से गुञ्जित लता,
विकसती नवमालती, सुरभित समीर, स-शशि निशा—
मम अमोघ सु-शस्त्र ये सर्वत्र जय पाते जहाँ,
वह विवेक-विभव कहाँ ? औ है प्रबोधोदय कहाँ ? ॥१२॥

रति—आर्य्य पुत्र ! मैं समझती हूँ कि महाराज महामोह का वैरी विवेक एक बड़ा व्यक्ति है ।

काम—प्रिये ! तुमको कहाँ से यह स्त्री-स्वभाव-सुलभ भय विवेक के प्रति उत्पन्न हुआ ? देखो—

॥ बरवै ॥

यद्यपि विशिख शरासन, सुभग स्वरूप ।
बने सुमन के मेरे, नारि अनूप ! ॥

देव-दनुज-युत-जग मम, शासन द्वार।
नहीं एक क्षण को भी, धीरज धार ॥१३॥
और भी—

॥ दोहा ॥

सुर-पति उप-पति हो, गये, गौतम-नारी पास।
ब्रह्मा निज तनुजा निकट, शशि गुरु-पत्नी नाश॥
यों किसको मैंने नहीं, दिया कुपथ में डाल।
जग-उन्मादन-कर्म में, श्रम न शेरों को घाल ॥१४॥

रति—आर्य्यपुत्र! ऐसा है, तौ भी महा-सहाय-सम्पन्न शत्रु से शंकित रहना चाहिये। कारण यह है कि इसके यम-नियम-प्रमुख अमात्य महा बली सुने जाते हैं।

काम—प्रिये! राजा विवेक के यमादि यह जो आठ अमात्य देखती हो वह सभी निःसन्देह हमारे मिलन-मात्र से ही उससे भेद प्राप्त कर लेंगे :—

॥ दोहा ॥

भला अहिंसा वस्तु क्या? कोप समीप सुमीत!
ब्रह्मचर्य की बात क्या? सन्मुख मदन अजीत॥
सत्य और अस्तेय पुनि, त्याग आदि का नाम।
लेना बिल्कुल व्यर्थ है, जहाँ लोभ अभिराम! ॥१५॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—ये सब केवल निर्विकार चित्त से ही साधन किये

जाने के कारण सुगमता से समुन्मूलित किये जा सकते हैं। फिर, स्त्रियां इनके निमित्त डाकिनी हैं। इस लिये ये हमारे अधीन ही हैं। क्योंकि—

॥ दोहा ॥

अवलोकन, भाषण मधुर, केलि, सुहास, विलास।
आलिंगन अलगे रहें, रमणी-स्मृति ही पाश ॥१६॥

विशेष कर हमारे प्रभु के प्यारे मद, मात्सर्य्य, दम्भ, लोभादिकों से ललकारे जाने पर राजा विवेक के ये मन्त्री लोग अधर्म का ही आश्रय लेंगे।

रति—आर्य्य पुत्र! मैंने सुना है कि आप लोगों का और विवेक, शम, दम प्रभृति का उत्पत्ति-स्थान एक ही है।

काम—आह! प्रिये! उत्पत्ति-स्थान एक ही है यह तुम क्यों कहती हो? हम लोगों के जनक ही एक हैं—

॥ उल्लाला ॥

ब्रह्म और माया मिले, जन्मा पहले मन तनय।
रच त्रिभुवन उसने पुनः, दिया जन्म यह बंश-द्वय ॥१७॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति नाम की उनकी दो पत्नियां थीं। उनमें प्रवृत्ति से महामोह-प्रधान एक कुल और निवृत्ति से विवेक-प्रधान एक दूसरे कुल की उत्पत्ति हुई।

रति—आर्यपुत्र! यदि ऐसी बात है, तो आप का सहोदरों के साथ भी परस्पर इस प्रकार का वैर किस निमित्त है?

काम—प्रिये!

॥ दोहा ॥

एक भोग की वस्तु से, बन्धु-वैर विख्यात।
कुरु-पाण्डव-महि-द्रोह ने, किया जगत का घात ॥१८॥

यह समस्त जगत् हमारे पिता का उपार्जित है। पिता के प्रेम के कारण यह सबी हम लोगों से अधिकृत है। उन लोगों का तो संयोग से कहीं स्थान है। अतएव वे पापी सम्प्रति अपने पिता को तथा हम लोगों को मूल से उखाड़ देने के लिये उद्यत हैं।

रति—यह अमंगल शान्त हो ! परन्तु आर्य्यपुत्र ! यह पाप किस प्रकार का है ? क्या वे विद्वेष-मात्र से ऐसा कर्म कर रहे हैं ? अच्छा, जो हो। पर इससे बचने का उपाय क्या सोचा है ?

काम—उनके इस आचरण का एक गुप्त कारण है।

रति—आर्य्य पुत्र ! तो इसको मुझ पर क्यों नहीं प्रकट करते ?

काम—प्रिये ! तुम अपने स्त्री-स्वभाव के कारण भीरु हो। अतएव उन पापियों का दारुण कर्म्म तुम से नहीं कहूँगा।

रति—(भयभीत हो) वह किस तरह का है ?

काम—प्रिये ! डरो मत। यह केवल हताश लोगों की आशा-मात्र है। किंवदन्ती है कि हम लोगों के कुल में, काल-रात्रि के समान भयंकरी, विद्या नाम की एक राक्षसी उत्पन्न होगी।

रति (भयभीत हो)—बाप रे बाप ! क्या हमारे कुल में राक्षसी का जन्म होगा ? मेरा हृदय काँप रहा है।

काम—प्रिये ! डरो मत। यह केवल किंवदन्ती-मात्र है।

रति—तो यह राक्षसी क्या करेगी ?

काम—चतुरानन का कथन है कि—

॥ शोकहर ॥

संग-रहित परमेश्वर से गृहिणी माया ने अति सुभगा।
बिना स्पर्श के मन उपजा, क्रम से जग सिरजा स्नेह लगा ॥
जन्मेगी उस मन से वह विद्या कन्या, उर सालेगी।
माता-पिता और भ्राता गण, निखिल वंश जो घालेगी ॥१९॥

रति (भय से काँपती हुई)—आर्य पुत्र ! रक्षा करें ! रक्षा ! आलिंगन करती है)

काम—(स्पर्श-सुख नाट्य करता हुआ, स्वगत)

॥ सार ॥

अति चंचल कनीनिका से हैं आकुल जिसके लोचन।
उस चपलाक्षी का आलिङ्गन अति सुख-प्रद,दुख-मोचन ॥
झंकरते मणि-वलय-युक्त जो बाहु-लता-कृत-पावन।
भय-कम्पित कमनीय कुचों की संगति से मन-भावन ॥२०॥

(पाश-रूप से कस कर आलिङ्गन करता हुआ)—
प्रिये ! डरो मत। डरो मत। हमारे जीते-जागते भला विद्या जन्म कैसे हो सकता है ?

रति—तो क्या उस राक्षसी की उत्पत्ति में आप के शत्रु मत हैं ?

काम—अवश्य। वह निज सहोदर प्रबोध चन्द्र के साथ विवेक तथा देवी उपनिषद् से उत्पन्न होगी। इस बात में शम, दम प्रभृति सभी प्रयत्नवान् होंगे।

रति—अपने विनाश करने वाली विद्या की उत्पत्ति इन दुर्विनीतों के क्यों आनन्द-दायिनी है ?

काम—कुल को नाश करने में प्रवृत्त पापियों को अपने और पराये के प्रत्यवायों की गणना कहाँ होती है ? देखो—

॥ दोहा ॥

मलिन कुटिल का जन्म जग, होता बस इस हेतु।
उद्गम-ओ-निज नाश का, बने क्रूरतम केतु॥
पाकर जलधर पद यथा, धूम चूम आकाश।
अनल नाश कर आप भी, पाता शीघ्र बिनाश॥२१॥

(नेपथ्य में)

आः पापी ! दुरात्मा ! हम लोगों को ही क्यों पापी कहता है ? अरे क्या तू नहीं जानता कि—

॥ सोरठा ॥

गुरु भी साहङ्कार, कार्य्याकार्य्य-बिचार-हत।
करे कुपथ आचार, तो तजना उसको उचित॥२२॥

इस पौराणिक गाथा का पुराण-वेत्ता उदाहरण दिया करते हैं। अहंकार के वशीभूत हो हमारे पिता, मन ने जगत्पति, परम-

पिता को ही पाश-बद्ध कर रखा है। मोहादिकों ने उस पाश को और भी प्रबल कर दिया है।

काम (देख कर)—विवेक, जो हमारे कुल में ज्येष्ठ है, मति देवी के साथ इधर ही आ रहा है—

॥ शोकहर ॥

रागादिक स्वच्छन्द-चारियों से मानो अपमानित हो।
होके तेज-निधन, स्व-मान-धन, तन से कृषित अपरिमित जो॥
राग प्रभृति से कलुषित मति के संग विवेक विराज रहा।
निबिड़ तुहिन से आच्छादित ज्यों कान्ति-समेत शशाङ्क हहा!॥२३॥

अतः हम लोगों का इस स्थान पर अधिक देर तक रहना उचित नहीं। (दोनों जाते हैं)

विष्कम्भक।

(राजा विवेक और मति का प्रवेश)

राजा (सोच कर)—प्रिये! तुमने इस दुष्ट, दुर्विनीत के अहङ्कार-भरे वचन सुने कि हमी लोग पापी हैं इत्यादि?

मति—आर्यपुत्र! क्या अपना दोष आदमी को जान पड़ता है?

राजा—देखो—

॥ दोहा ॥

चिदानन्दमय विश्वपति, मोहावरण-विहीन।
उसको, अघी मदादि ने, बाँध किया है दीन ॥२४॥

ऐसे लोग पुण्यात्मा ! और हम लोग जो उसको मुक्त करने में प्रवृत्त हैं सो पापी ! हा ! जगत् को इन दुरात्माओं ने जीत लिया !

मति—आर्य्यपुत्र ! मैंने सुना है कि परमेश्वर सहजानन्द, सुन्दर-स्वभाव, नित्य-प्रकाश तथा समस्त-त्रिभुवन-व्यापी है। फिर, इन दुष्टों द्वारा वह कैसे बाँध कर महामोह के समुद्र में फेँक दिया गया ?

राजा—प्रिये !

॥ किरीट ॥

संतत धीर, प्रशान्त महान, सु-वैभवमान, महा नय-नागर।
अन्तर स्वच्छ, प्रबुद्ध प्रसिद्ध, प्रभाव प्रचन्ड, व सद्गुण-आगर ॥
जायँ ठगे रमणी-गण से जब, धैर्य्य तजें वह वीर उजागर।
ब्रह्म तथा निज भामिनि संगति से सुध भूल गया सुख-सागर ॥२५॥

मति—आर्य्यपुत्र ! यह असंभव है। यदि अन्धकार की वक्र रेखा सहस्र-रश्मि सूर्य्य को छिपा ले तो माया उस महा-प्रकाश-पयोधि देव को भी अभिभूत कर सकती है।

राजा—प्रिये ! सत्यासत्य-बिचार-बिहीना, वार-बिलासिनी की भाँति यह माया असत्य में सत्य का भाव प्रदर्शित करती हुई, परम पुरुष को प्रवञ्चित करती है। देखो—

॥ गीतिका ॥

स्फटिक-मणि सम भासमान सुदेव यह, उस नीच से,
गर न संग-विकार व्यापे, विकृत है उस कीच से ॥
तनिक इसकी कान्ति जाती है न उसके संग से।
पुरुष में तौभी अधीरज आन अपने रङ्ग से ॥२६॥

मति—आर्य्यपुत्र ! तो इसका कारण क्या है जिससे वह
नी परमात्मा को प्रतारित करती है ?

राजा—प्रयोजन वा कारण देख कर माया कार्य्य नहीं करती
जो स्त्रियां पिशाचिनी-स्वरूप हैं उनका स्वभाव ही वैसा
देखो—

॥ रोला ॥

मोहे, मस्त बनावे, जग निन्दा फैलावे।
धमकावे औ खेल खेलावे, खेद कढ़ावे ॥
पुरुषों के जब सदय हृदय में जगह जमावे।
नारी रङ्ग मचावे कौन न नाच नचावे !! ॥२७॥

एक दूसरा भी कारण है।

मति—वह कौन सा कारण है ?

राजा—उस दुराचारिणी ने यह विचारा कि "मेरी जवानी
गई। मैं वृद्धा हूँ। यह पुरुष भी वृद्ध और स्वभाव से ही
य-रस-विमुख है। इसलिए परमेश्वर के पद पर अपने पुत्र
निवेशित करूँ।" मन ने भी, जो अपनी माता से नितान्त मिल

हुआ है और जो मानो उसी का स्वरूप है, उसका अभिप्राय जान, नौ द्वारों के पुरों को रच कर—

॥ राधिका ॥

यद्यपि जग-पति है एक, अनेक बनाया।
करके विच्छेद, पुरों में उसे समाया॥
पुनि, प्रभु में दुख-सुख देह-धर्म्म को थापा।
मणि में ज्यों जपा-कुसुम का रङ्ग सु-व्यापा॥२८॥

मति—आर्य्यपुत्र ! जैसी माता है, पुत्र भी ठीक वैसाही हुआ।

राजा—तब वह चित्त के ज्येष्ठ पुत्र और अपने पौत्र अहंकार से आलिंगित हुआ। तदनन्तर वह परमेश्वर—

॥ शक्ति ॥

हुआ जन्म मेरा, पिता हैं यही।
यही मा अहा, मानिनी यह सही॥
यही वंश मेरा, यही है मही।
यही पुत्र, बल और विद्या यही॥
यही शत्रु औ मित्र, भाई यही।
यही धन व दौलत, कमाई यही॥
इसी भांति से चित्त के भाव को।
सु-अनुभूत करता सभी चाव को॥
अ-विद्यामयी नींद को प्राप्त कर।
अजी भूल में अपने को व्याप्त कर॥

विविध स्वप्न को देखता वह सदा ।
सु-मतिमान विद्वान संयुत-मुदा ॥२६॥

मति—उस परमेश्वर में—जिससे इस प्रकार घोर-निद्रा के कारण प्रबोध लुप्त हो गया है—पुनः कैसे प्रबोध की उत्पत्ति होगी ?

राजा—(लज्जा से सर नीचे कर लेता है)

मति—आर्य्यपुत्र ! आप इस प्रकार लज्जा के भार से नत-मस्तक हो मौन क्यों हैं ? बोलते क्यों नहीं ?

राजा—प्रिये ! स्त्रियों का हृदय प्रायः ईर्ष्या-पूर्ण हुआ करता है । अतः मैं अपने को अपराधी मान कर चिन्तित हूँ ।

मति—आर्य्यपुत्र ! वे स्त्रियाँ और हैं जो अपने श्रेष्ठ तथा धर्म-निरत स्वामियों के हृदय की बातें प्रकट करती हैं ।

राजा—प्रिये !

॥ *विष्णु-पद* ॥

शम-दम हों अनुकूल मौन धर तू सब विषय दरे ।
जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-दशाओं का अभिमान टरे ॥
यों मानिनी, वियोग-व्यथा में जिसका दिवस कटे,
हो उपनिषद् संग संगम मम, तब प्रबोध प्रकटे ॥३०॥

मति—आर्य्यपुत्र ! यदि दृढ़ ग्रन्थि से कुल-प्रभु का इस प्रकार बन्धन-मोक्ष हो तो उपनिषद् देवी के साथ आप का सब दिन सम्बन्ध रहे । यही सुन्दर है और यही मुझको प्रिय है ।

राजा—प्रिये ! यदि तुम इस प्रकार प्रसन्न हो तो मेरे सकल मनोरथ सिद्ध हैं। क्योंकि—

॥ विजया ॥

विविध विधि बाँध के, विपुल भेद साध के,
अनन्त अखिलेश को धरा है नर-देह में।
हा ! जिन अति क्रूरों ने, असुर-मति-शूरों ने,
कठोरता सु-घोर से, रखा है मृत्यु-गेह में॥
उन ब्रह्म-भेदियों को, नित्य मर्म-छेदियों को,
कु-वेधियों को दल के, कुचल कर खेह में।
प्रबल विद्या के बल, अमल औ अविकल,
सो ब्रह्म को धरूँ पुनः मैं एकता-अदेह में ॥२१॥

अच्छा तो प्रस्तुत कार्य्य के निमित्त शम इत्यादि को नियुक्त करता हूँ।

(मति और विवेक का प्रस्थान)

दूसरा अङ्क ।

—:o:—

(दम्भ का प्रवेश)

दम्भ—

महाराज महामोह का यह आदेश है—"वत्स, दम्भ प्रबोधोदय के निमित्त अमात्यों के समेत विवेक ने प्रण कर अनेकानेक तीर्थों में शम, दम, आदि को भेजा है। हमारे कुल का नाश उपस्थित है। अतः आप को चेत के साथ इसका प्रति-कार करना चाहिये। पृथ्वी पर वाराणसी नाम की नगरी मुक्ति का परम खेत है। सो, आप वहाँ जाकर चारों आश्रमों के लोगों के घोर विघ्न के लिये प्रयत्न करें।" वह वाराणसी तो अब मेरे अधिकार में है और स्वामी का जो आदेश था सो पूरा हुआ। मेरे वश में हो इस समय—

॥ रुचिरा ॥

वेश्या-वेश्म विराज, मधुर, मधु-सुरभित ललना-आनन के
आसव को पी मदन-मत्त, सुठि बिता चांदनी—निशि मन से॥
अग्निहोत्र, तापस, दीक्षित, सर्वज्ञ और ब्रह्मज्ञ बने।
फिरते हैं दिन में जग को, अति ठगते हुए सु-धूर्त घने॥१॥

(देख कर) कोई पथिक भागीरथी को पार कर इस समय इस ओर आ रहा है। यह तो—

॥ दोहा ॥

त्रिजग जलाता गर्व से, करता मानो ग्रास।
निन्दा करता वचन से, प्रज्ञा से उपहास॥२॥

मैं समझता हूँ कि यह अवश्य दक्षिण के राढ़ा प्रदेश से आता है। तो इन आर्य्य अहङ्कार का वृत्तान्त सुनूँ। (घूमता है)

(अहङ्कार का प्रवेश)

अहङ्कार—

संसार मूर्खता से भरा है—

॥ छप्पै ॥

सुना प्रभाकर-मत न कुमारिल-दर्शन जाना।
नहीं ज्ञान शारिक वाचस्पति का उर आना॥
पढ़ा महोदधि-सूक्त न शास्त्र महाव्रत देखा।
सूक्ष्म सु-ब्रह्म-विचार, न इसकी ओर निरेखा॥
तदपि यह आश्चर्य्य की, बात लखाती है महा।
नर-पशु कैसे चैन से, निज जीवन काटें अहा!॥२॥

(देख कर) ये लोग जो कुछ पढ़ते हैं उसका अर्थ नहीं समझते। ये केवल स्वाध्याय के अध्ययन-मात्र में ही निमग्न हैं। ये वेद के डुबानेवाले हैं।

(फिर दूसरे की ओर जाकर) ये लोग भिक्षा-मात्र के लिये यति-व्रत धारण किये हैं। मूड़ मुड़ा लिये हैं और अपने को पंडित मानते हैं। परन्तु ये वास्तव में वेदान्तशास्त्र का गला घोंटते हैं। (हँस कर)—

॥ रोला ॥

प्रत्यक्षादि-प्रमाण-प्रमा से सिद्ध विराजे।
उस सु-अर्थ का जो विरोध निज बल से साजे॥

वह वेदान्त भला यदि जग में शास्त्र कहावे।
बौद्ध शास्त्र में तो फिर क्यों तू दोष बतावे ?॥४॥

सो, इनकी बात सुनना भी भारी पाप है। (औरों की ओर जाकर) ये शैव पाशुपतादि हैं। ये अक्षपाद का मत समझने की बड़ी चेष्टा करते हैं। ये पशु हैं, पाषण्डी हैं। इनके साथ संभाषण से भी मनुष्य नरक जाता है। अतः इनको दृष्टि-पथ से, दूर से ही, हटाये रखना चाहिये। (फिर दूसरी ओर जाकर) और ये—

॥ शोकहर ॥

गंगा-तीर शिला शीतल पर अजी बिछा आसन अपने।
बैठे हुए हाथ में कुश ले, बंश-पात्र से शुभ्र बने॥
रुद्राक्षों की माला जपने में आकुल अँगुली जिनकी।
हैं दम्भी जन, हरें धनी-धन, बात चलावें क्या इनकी? ॥५॥

(फिर दूसरी तरफ़ जाकर)

ये त्रिदंड के व्याज से अपना जीवन निर्वाह करते और द्वैताद्वैत मार्गों से परिभ्रष्ट हैं।

(दूसरी ओर जाकर और देख कर)

देव-नदी के निकट यह किसका आश्रम शोभ रहा है ? सामने बाँस की फट्टियों में लगीं एक हज़ार छोटी-छोटी श्वेत पताकायें नृत्य कर रही हैं और धरती मृग-छालाओं से ढकी है ! इसके समीप दृषद्, उपल, चमस, चषाल, उलूखल और मुसल नामक

यज्ञपात्र विद्यमान् हैं। हवन किये गये घृत का सुगंधित धूम इससे अनवरत उठ रहा है जिस कारण गगन-मण्डल श्यामल हो रहा है। यह अवश्य किसी गृहस्थ का घर है। अच्छा तो यह परम पवित्र स्थान कुछ दिन हमारे निवास के योग्य है। (भीतर प्रवेश कर और देख कर)

॥ दोहा ॥

उदर, ऊरु, उर, भाल, भुज, पीठ, सुकंठ, कपोल।
चुबुक, जानु औ ओठ में, शोभ तिलक अनमोल॥
शिखा, कर्ण, कटि, पाणि में, कुश कमनीय विराज।
मूर्त्तिमान् सम दम्भ यह, भुवन मध्य अति भ्राज॥६॥

तो इनके पास चलें। (पास जाकर) आप का कल्याण हो! (दम्भ हुँकार द्वारा निवारण करता है)

(बटु का प्रवेश)

बटु (अचानक) ब्राह्मण! दूर ही रहना क्योंकि पाँव धोकर इस आश्रम में आना चाहिये।

अहङ्कार (क्रोध से)—पापी! मैं तुरुष्क देश में रह आया हूँ जहाँ गृहस्थ आसन-पाद्यादि लेकर भी श्रोत्रियों तथा अतिथियों के संमुख नहीं जाते।

दम्भ—(हाथ के संकेत से आश्वासन देता है)

बटु—पूज्यपाद कहते हैं कि आप दूर देश से आते हैं किन्तु आप ने हम लोगों को अपना कुल-शीलादि अच्छी तरह नहीं बतलाया।

अहङ्कार--आह! क्या हम लोगों के कुल-शीलादि की भी अब परीक्षा होगी? अच्छा तो सुनिये--

॥ सरसी ॥

गौड़ राष्ट्र उत्तम, अनुपम है जहाँ सु-नगरी राढ़।
भूरिश्रेष्ठ है धाम वहाँ मम पिता सु-श्रेष्ठ प्रगाढ़॥
उनके महा कुलीन पुत्र गण किसे न जगमें ज्ञात?
उनमें बुद्धि-विवेक-शील में हम उत्तम विख्यात॥७॥

बटु--(ताम्बे की गगरी लेकर) भगवन्! पैर धोवें।

अहङ्कार--(मन ही मन) अच्छा, इससे कौन विरोध है? धो लेते हैं। (पैर धोकर आगे बढ़ता है)

दम्भ--(दाँत कटकटा कर बटु को देखता है)

बटु--दूर ही रहिये। पवन आप के प्रस्वेद-कणों को इस ओर लाता है।

अहङ्कार--यह विचित्र ब्राह्मणत्व है!

बटु--ब्राह्मण! हमारा ब्राह्मणत्व इस रूप का है--

॥ सोरठा ॥

श्रीगुरु-चरण-सरोज, बिना छुए, थल निकट की।
करेँ आरती रोज़, महिप मुकुट-मणि-रश्मि से॥८॥

अहङ्कार--(स्वगत) यह दम्भ का देश है। (प्रकाश) अच्छा, इस आसन पर बैठते हैं। (ऐसा करना चाहता है)

बटु—ऐसा मत करें। पूज्यपाद के आसन पर कोई दूसरा नहीं बैठ सकता।

अहङ्कार—आः पापी! क्या हम भी—जिनकी विशुद्धि दक्षिण राढ़ा प्रदेश में प्रसिद्ध है—इस आसन पर नहीं बैठ सकते? रे मूर्ख! सुन—

॥ छप्पै ॥

वैसे उज्ज्वल कुल की माता नहीं हमारी।
तौ भी सत् श्रोत्रिय कुल से हम लाई नारी॥
इस कारण हम बढे बाप से हैं, यह लेखो।
है आचार हमारा क्या यह भी लो देखो—
साले का भाँजा! सुता उसकी! मिथ्या शाप से!
शापित सुन निज वल्लभा भी त्यागी डर पाप से! ॥६॥

दम्भ—ब्राह्मण! यह सत्य है। परन्तु आप को हमारा वृत्तान्त ज्ञात नहीं है—

॥ रोला ॥

अजी, एक दिन हम ब्रह्मा के सदन सिधारे।
झट मुनि जन उठ खड़े हुए, निज आसन वारे॥
ब्रह्मा ने गोमय-जल से निज जंघा शोधी।
देकर शपथ बिठाया उसपर हमें, सु-बोधी ॥१०॥

अहङ्कार—(स्वगत) वाह रे! दम्भी ब्राह्मण की अत्युक्ति। (सोचकर) यह दम्भ ही तो नहीं है? अच्छा, जो हो। (प्रकाश)

रे! क्या गर्व करता है? (क्रोध से)—

॥ शार्दूल विक्रीडित ॥

के है वासव? पद्मयोनि पुनि को? तू तो ज़रा बोल रे!
क्या हैं वे कह तो मुनीश जिनसे संसार में औतरे? ॥
देखे तू बल क्या महान तप का, माहात्म्य मेरा सभी।
संख्यातीत मुनीन्द्र, इन्द्र, विधिको ढाऊँ, गिराऊँ अभी ॥११॥

दम्भ—(देख कर, आनन्द से) अहा! हमारे दादा अहङ्कार हैं! आर्य्य! हम, लोभ के पुत्र, दम्भ, आप को प्रणाम करते हैं।

अहङ्कार—वत्स! आयुष्मान् हो! द्वापर के अन्त में हमने तुमको बिलकुल बालक देखा था। बहुत दिन के बाद देखने से और बुढ़ापा आ जाने से हम तुमको इस समय अच्छी तरह नहीं पहचान सके। तुम्हारा पुत्र, अनृत, कुशल से तो है?

दम्भ—वह भी महामोह की आज्ञा से यहाँ ही है। उसके बिना तो हम मुहूर्त्त भर भी जी नहीं सकते।

अहङ्कार—तुम्हारे माता-पिता, तृष्णा-लोभ, भी कुशल से हैं न?

दम्भ—वे भी राजा महामोह की आज्ञा से यहीं विराजमान हैं। उनके बिना तो हम एक क्षण भी रह नहीं सकते। श्रीमान् ने किस प्रयोजन से यहाँ पधारने की कृपा की?

अहङ्कार—वत्स! हमने सुना है कि विवेक ने महामोह का बड़ा अनिष्ट किया है। सो, वह वृत्तान्त जानने के लिये हम यहाँ

आये हैं।

दम्भ—श्रीमान् का आना बड़ा अच्छा हुआ। क्योंकि महार का भी इन्द्रलोक से यहाँ आना सुना जाता है। किंवदन्ती है महाराज ने राजधानी वाराणसी में बसने का विचार किया है।

अहङ्कार—भला वाराणसी में पूर्ण-रूप से मोह के निवास क्या कारण है?

दम्भ—विवेक के निरोध के ही निमित्त—

॥ रोला ॥

विद्या और प्रबोध उदय की जन्म-मही जो।
अविनाशी काशी, शंकर की पुरी सही जो॥
यहाँ हमारे कुलोच्छेद का चाव चढ़ा के।
चाह रहा बसना नित वह अति भाव बढ़ा के॥१२॥

अहङ्कार—(भय से) तब तो श्रीमान् का विजय असम्भ है। क्योंकि—

॥ शंकर ॥

यहाँ पुरारि विश्वपति शंकर, कृपानिधि भगवान्।
उन सब जीव-जन्तुओं को, जो ब्रह्म से अनजान॥
जन्म-मरण-भय-वारक, तारक, परम चारु प्रबोध।
अन्त काल में देते हैं नित, नाश अखिल अबोध॥१३॥

दम्भ—यह सत्य है। तथापि यह बात उनके लिये नहीं जो काम क्रोध से अभिभूत हैं। वैदिक लोग कहते हैं कि—

॥ दोहा ॥

मन, इन्द्रिय, मति, ज्ञान, व्रत, युगल हस्त औ पायँ।
हैं जिसके संयत सदा, वही तीर्थ-फल पाय ॥१४॥

दम्भ—(नेपथ्य में) हे पुर-निवासियो ! महाराज महामोह आ पधारे। इस कारण—

॥ शोकहर ॥

शीघ्र स्फटिक-मणि-चबूतरों को शुचि चन्दन से साफ करो।
खोलो सब जल-यन्त्र, गृहों में जहाँ-तहाँ यों वारि भरो॥
दीप्तिमन्त औ स्थूल-सुमणि-मण्डित-तोरण-गण लहराओ।
प्रासादों पर इन्द्र-धनुष-के-रंग पताके फहराओ ॥१५॥

दम्भ—आर्य्य ! महाराज आ रहे हैं। अतएव अगवानी कर के श्रीमान् उनका सम्मान करें।

अहङ्कार—अच्छा तो। (दोनों जाते हैं)

(प्रवेशक)

(महामोह का शान के साथ परिवार सहित प्रवेश)

महामोह—(मुस्कुरा कर) वे निरङ्कुश मूर्ख हैं जो यह समझते हैं कि—

॥ दोहा ॥

अलग देह से आतमा, स्वर्ग आदि फल भोग।
नभ-तरु-सुमन-सुमधुर-फल का यह आशा-रोग ! ॥१६॥

निज-कल्पना-निर्मित पदार्थ को अङ्गीकार कर दुर्बुद्धियों द्वारा संसार इसी प्रकार ठगा जाता है—

॥ शोकहर ॥

जो है नहीं, सही उसको कह ये वाचाल मृषावादी।
हम सब सत्यवादियों को कहते नास्तिक, आस्तिकवादी॥
स्वयं आप यह तत्त्व विचारें, जी में लें इसका लेखा।
हो जाने पर देह छिन्न, यह जीव भला किसने देखा? ॥१७॥

पुनः, ये लोग केवल जगदात्मा को ही नहीं ठगते—

॥ रोला ॥

मुख आदिक सब एक, पुनः क्यों वर्ण-व्यवस्था?।
निज औ पर-वसु-वनिता में क्या भेद-अवस्था?॥
हिंसा औ पर-रमणी पर-धन रमण-हरण में।
निष्पौरुष नर योग्यायोग्य विचारें मन में ॥१८॥

(अभिमान-पूर्वक सोचता हुआ)—शास्त्र सर्वथा सब पर स्पष्ट है। इसमें प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है। क्षिति, जल, पावक और समीर ही तत्त्व हैं। अर्थ और काम ही पुरुषार्थ हैं। पदार्थों के संसर्ग से ही शक्ति उत्पन्न होती है। परलोक का नाम नहीं। मृत्यु ही मोक्ष है। यह शास्त्र हमारे ही अभिप्राय के अनुसार वाचस्पति ने प्रणयन कर चार्वाक को समर्पण किया था। इसको उन्होंने अपने शिष्यों को, फिर उन्होंने अपने शिष्यों को, फिर क्रमानुसार उन्होंने अपने शिष्यों को सिखाया। इस प्रकार यह संसार भर में फैल गया।

(चार्वाक और उसके शिष्य का प्रवेश)

चार्वाक—वत्स ! तुम जानते हो कि केवल दण्ड-नीति ही विद्या है। इसी के अभ्यन्तर अर्थानर्थ-प्रतिपादक शास्त्र है। तीनों वेद धूर्तों के प्रलाप हैं। स्वर्ग की प्राप्ति वे कदापि नहीं करा सकते। देखो—

॥ दोहा ॥

क्रतु-कर्त्ता की मृत्यु पर, यदि हो स्वर्ग-प्रदान।
तो दावानल-दग्ध द्रुम, पावे सु-फल महान ! ॥१९॥
पुनः—
निहत-हुआ पशु यज्ञ में, पावे स्वर्ग महान।
तो क्यों अपने जनक को, हने नहीं यजमान ? ॥२०॥
पुनः—
मृत-प्राणी को श्राद्ध यदि, तोष-तृप्ति अति भेज।
करे स्नेह निर्वाण पर, दीप-शिखा को तेज़ ! ॥२१॥

शिष्य—आचार्य्य ! यदि खान-पान ही पुरुष के लिये परमार्थ है तो क्यों ये वैदिक लोग संसार-सुख को परित्याग कर पराक-सान्तपन, षष्ठकाल्माशन प्रभृति घोरातिघोर दुःखों से आत्मा को पीड़ित करते हैं ?

चार्वाक—धूर्तों के बनाये शास्त्रों से ठगे गये मूर्खों की—आशा-मोदकों द्वारा—यही तृप्ति है। देखो, देखो—

॥ सार ॥

भुजा भुजा से दबा पीन कुच में कल-कुंचन-कारी।
कहाँ मृगाक्षि अङ्गना का मृदु आलिङ्गन मन-हारी ! ॥

भिक्षाटन, उपवास, नियम, रवि-किरण-दाह से भारी।
कहाँ स्व-तन-शोषण की विधियां कुबुद्धियों की सारी ! ॥२२॥

शिष्य—आचार्य्य ! वैदिक लोग यह कहते हैं कि दुःख-मिश्रित संसार-सुख संत्याज्य है।

चार्वाक—(मुस्कुरा कर) आह ! यह नर-पशुओं की दुर्बुद्धि का विकाश है—

॥ सार ॥

दुख-मिश्रित है विषय-भोग-सुख अतः त्याज्य अति सो है—
यह विचार है मूर्खों का, नित मूर्ख-हृदय में सोहै ॥
तुष-कण लगे समुज्वल तण्डुल से सम्पन्न सु-शाली !
भला उसे निज-हित-अभिलाषी त्यागे कौन सु-चाली ? ॥२३॥

महामोह—अहा ! ये चिरकाल के प्रमाण भरे वचन कानों को कैसा सुख दे रहे हैं ! (आनन्द से देख कर) अरे, यह तो मेरा सुहृद् चार्वाक है !

चार्वाक—(देखकर) यह महाराज महामोह हैं। (पास जाकर) महाराज की जय हो, जय हो ! यह चार्वाक प्रणाम करता है।

महामोह—चार्वाक ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। यहां बैठो।

चार्वाक—(बैठकर) कलियुग ने साष्टाङ्ग प्रणाम कहा है।

महामोह—कलि की कुशल तो अक्षुण्ण होगी ?

चार्वाक—प्रभु की कृपा से सर्वत्र कुशल है। कार्य्य-सम्पादन के निमित्त सेवक स्वामी-चरण का दर्शन चाहता है।

॥ शोकहर ॥

शीश धार तव अनुशासन, कर नाश शत्रुओं के दल को।
तत्त्तण कर के प्राप्त परम सुख औ प्रसन्नता अ-विचल को॥
अति प्रमोद से दर्शन के हित अनुमोदन को पा कर के।
धन्य कली प्रभु-पद-पङ्कज पै होगा प्रणत प्रणाय भर के। ॥२४॥

महामोह—तो कलियुग ने कौन कौन कार्य्य किये?

चार्वाक—देव!

॥ शक्ति ॥

सभी वेद के मार्ग को त्याग कर।
करें चित्त की, धर्म्म से भाग कर॥
न कलियुग, न मैं हेतु इस ताप का।
जगाता है परताप, बल आप का ॥२५॥

इनमें उत्तर और पश्चिम वालों ने तो वेदों का परित्याग ही कर दिया। शम-दमादिकों की क्या बात चलाई जाय? अन्य स्थानों में भी वेदों का अध्ययन प्रायः जीविका-मात्र के लिये ही है। जैसा कि आचार्य्य वृहस्पति ने कहा है—

॥ दोहा ॥

अग्नि-होत्र, त्रय वेद, तन-भस्म, सुभग संन्यास।
प्रज्ञा-पौरुष-हीन की, यही जीविका ख़ास ॥२६॥

अतएव कुरुक्षेत्रादिकों में तो स्वप्न में भी विद्या-प्रबोध के उदय की आशङ्का महाराज को नहीं करनी चाहिये।

महामोह—साधु! साधु! वह महान् तीर्थ व्यर्थ कर दिया गया!

चार्वाक—महाराज! कुछ और भी निवेदन करना है।

महामोह—वह कौन सी बात है?

चार्वाक—विष्णुभक्ति नाम की एक महा-प्रभाव-युक्त योगिनी है। कलि के द्वारा यद्यपि उसका प्रचार बहुत कम कर दिया गया है तौभी उसके अनुगृहीत वंश के अवलोकन का भी हमें सामर्थ्य नहीं है। इस लिये महाराज उस से सावधान रहें।

महामोह—(भय के साथ और आत्मगत) आह! उस योगिनी का महा प्रभाव प्रसिद्ध है। वह स्वभाव से ही हम लोगों की विद्वेषिणी है। उसका विच्छेदन कठिन है। अच्छा, जो हो। (स्वगत) जान देकर काम करेंगे। (प्रकाश) तो मित्र! इसका भय मत करो। काम-क्रोधादि प्रतिपक्षियों के प्रकाशमान् रहते भला कहीं उसका उदय हो सकता है?

चार्वाक—तौभी विजय की अभिलाषा रखने वाले को छोटे शत्रु से भी अ-सावधान नहीं रहना चाहिये। क्योंकि—

॥ दोहा ॥

अल्प शत्रु भी भूप का, उर छेदे, दे ताप।
कण्टक-अङ्कुर सूक्ष्म भी, पद को दे संताप ॥२७॥

महामोह—(नेपथ्य की ओर देख कर) कोई है ?

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—महाराज की जय हो ! क्या आज्ञा होती है ?

महामोह—हे असत्सङ्ग ! काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्स-र्यादिकों से कह दो कि वे योगिनी विष्णुभक्ति से सावधान रह उसको हनन करें ।

द्वारपाल—महाराज की जो आज्ञा । (जाता है)

(हाथ में पत्र लिये एक पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—मैं उत्कल देश से आता हूँ । वहाँ सागर के तीर पर पुरुषोत्तम नाम का मन्दिर है जहाँ से भट्टारक मद और मान द्वारा महाराज के पास में भेजा गया हूँ । (देख कर) यही वाराणसी है । यही राज-मन्दिर है । मैं प्रवेश करूं । (प्रवेश कर) भट्टारक चार्वाक के साथ कुछ परामर्श कर रहे हैं । तो इनके पास चलूं । (पास जाकर) महाराज की जय हो ! यह पत्र, जिसे महाराज को देने की मुझे आज्ञा हुई है, पढ़ा जाय । (पत्र देता है)

महामोह—(पत्र लेकर) आप कहां से आते हैं ?

पुरुष—मैं पुरुषोत्तम से आता हूँ ।

महामोह—(स्वगत) कोई अमङ्गल का समाचार जान पड़ता है । (प्रकाश) चार्वाक ! आप जायँ और अपने कर्त्तव्य में सावधान रहें ।

चार्वाक—महाराज की जो आज्ञा । (जाता है)

महामोह (पत्र पढ़ता है)—

"स्वस्ति श्री वाराणसी-वासी महाराजाधिराज परमेश्वर महामोह के पद-पद्मों में पुरुषोत्तम मन्दिर से मद और मान के साष्टाङ्ग प्रणाम। यहाँ निर्विघ्न कुशल है। विशेष यह है कि अपनी माता श्रद्धा के साथ देवी शान्ति विवेक की दूती बन कर विवेक के संगम के निमित्त अहर्निश देवी उपनिषद् को प्रबोध करती रहती है। धर्म्म जो पहले काम का सहचर था अब वैराग्यादि से बहकाया हुआ देख पड़ता है। क्योंकि काम से पृथक् होकर वह कभी-कभी गुप्त स्थानों में घूमता है। यह जान कर महाराज निर्णय करें कि क्या करना उचित है।"

महामोह—(क्रोध से) आह! ये अतिशय मूढ़ शान्ति से भी डरते हैं! कामादिक प्रतिपक्षियों के रहते यह कैसे प्रकट हो सकती है?

॥ शोकहर ॥

ब्रह्मा केवल विश्व-सृष्टि करने में रहते मग्न सदा।
दक्ष-यज्ञ-ध्वंसी शिव गौरी-आलिङ्गन में लिप्त-मुदा॥
विष्णु पयोनिधि में सोते कमला-कपोल उर पै धर के।
कहें शान्ति-संवाद भला क्या अपर जन्तुओं के घर के?॥२८॥

(पुरुष के प्रति) दुष्ट! जा। काम के समीप सत्वर पहुँच हमारा यह आदेश सुना—"हमारी सम्मति में धर्म्म दुर्हृदय-व्यक्ति है। अतएव मुहूर्त्त-मात्र के लिये भी तुम उसका विश्वास मत

रो। उसको कस के बाँध रखो।"

पुरुष—महाराज की जो आज्ञा। (जाता है)

महामोह—(अपने आप सोच कर) शांति की शान्ति का क्या पाय किया जाय? अथवा, किसी अन्य उपाय की आवश्यकता क्या है? इस काम के लिये क्रोध और लोभ ही पर्य्याप्त हैं। प्रकाश) कोई है?

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—महाराज की क्या आज्ञा है?

महामोह—क्रोध और लोभ को बुला।

द्वारपाल—महाराज की जो आज्ञा। (जाता है)

(क्रोध और लोभ का प्रवेश)

क्रोध—मैंने सुना है कि शान्ति, श्रद्धा और विष्णुभक्ति महा-ज के विपक्ष में कार्य्य कर रही हैं। अरे, मेरे जीते-जागते आत्मा प्रति इनकी सब चेष्टायें कैसी निष्फल हैं!

॥ सुमेरु ॥

निरा अन्धा, निपट बहरा बनाऊँ।
जगत गत-चेतना चट कर दिखाऊँ॥
न जिस से हित सुनें, कर्त्तव्य देखें।
न बुध में धर्म्म की स्मृति हो, न पेखें॥२४॥

लोभ—अरे, जो हमारे भक्त हैं वे तो मनोरथ-सरिता की परंपरा ो ही नहीं पार करेंगे। फिर, शान्ति आदि का उनको क्या ध्यान

होगा ? मित्र ! देखो, देखो—

॥ हरि-गीतिका ॥

मद-म्लान-गंड गजेन्द्र ये मम दे रहे शोभा महा !
हैं वायु से भी तीव्र हय, पर और भी ये हों ! अहा ! ॥
पाया इसे, इससे अधिक पाऊँ, इसे भी मैं लहूँ—
यों सतत चिंताहत जनों की शान्ति का क्या मैं कहूँ ? ॥२०

क्रोध—मित्र ! तुम को मेरा प्रभाव मालूम है ?

॥ भुजंग-प्रयात ॥

शुनासीर ने वृत्र को काट डाला ।
स्वभू-शीश को शम्भु ने छांट डाला ॥
हुआ गाधि के पुत्र का वक्त्र काला ।
वसिष्ठात्मजों को दया छोड़ घाला ! ॥

पुनः—

सुज्ञानी बड़े, कीर्त्ति छाई विशाला ।
सदाचार में शुभ्र औ शास्त्र पाला ॥
बड़े शूर हैं, शत्रुओं को निकाला ।
उन्हें नाशने में निरा हूँ निराला ! ॥२१॥

लोभ—तृष्णे ! इधर आओ ।

(तृष्णा का प्रवेश)

तृष्णा—आर्य्यपुत्र की क्या आज्ञा है ?

लोभ—प्रिये ! सुनो—

॥ हरिगीतिका ॥

सब देश, ग्राम, गिरीन्द्र, वन, पुर, पुरी, द्वीप, वसुन्धरा।
वाञ्छा वृहत प्रिय पाश बद्ध, न थिर ज़रा मानस खरा॥
तृष्णे! सभी के अङ्ग यदि परिपुष्ट तू कर दे यहाँ।
तो कोटि भी ब्रह्माण्ड पाये प्राणियों को शम कहाँ! ॥३२॥

तृष्णा—आर्यपुत्र! मैं स्वयं इस कार्य्य में निरन्तर निरत हूँ। सम्प्रति, आर्यपुत्र की आज्ञा है तो करोड़ ब्रह्माण्ड भी मेरे पेट के लिये पर्य्याप्त नहीं होंगे।

क्रोध—हिंसा! इधर आओ।

(हिंसा का प्रवेश)

हिंसा—मैं आ गई। आर्य्यपुत्र की क्या आज्ञा है?

क्रोध—प्रिये! तुमसी धर्मपत्नी पाकर मेरे लिये माता-पिता का वध भी साधारण बात है—

॥ स्रग्धरा ॥

को है माता पिशाची? यह जनक अहो! कौन भ्राता हमारे?।
हिंसा के योग्य ये हैं, कुटिल मति बड़े, बन्धु औ ज्ञाति सारे॥
(हाथ मलकर)
प्यारी मेरी! सबों को जब तलक नहीं मार के मूल कोड़ूँ।
ज्वालाओं से जलाते, इस भभक रहे क्रोध को मैं न छोड़ूँ! ॥३३॥

(देखकर) हमारे स्वामी यही हैं। हम लोग उनके पास चलें। (सब लोग जाकर) महाराज की जय हो! जय हो!

महामोह—श्रद्धा की तनया शान्ति हमलोगों की द्वेषिणी है। उसको अवश्य आप लोग दण्ड दें।

सब—महाराज की जो आज्ञा। (सब जाते हैं)

महामोह—श्रद्धा की तनया—ऐसा कहने से मेरे मन में एक दूसरा उपाय भी आ घुसा। शान्ति की माता श्रद्धा है। वह परतन्त्र है। सो किसी उपाय से उपनिषद् के समीप से श्रद्धा को पृथक् करना चाहिये। इसका फल यह होगा कि माता के वियोग-जनित दुःख तथा निज अति मृदुल स्वभाव के कारण शान्ति हताश हो जायगी। श्रद्धा को पकड़ने के लिये विलासिनी मिथ्यादृष्टि ही परम प्रवीण है। अतः इस काम में उसी को लगाऊँगा। (एक ओर ताक कर) विभ्रमावती! विलासिनी मिथ्यादृष्टि को अति-शीघ्र बुलाओ।

विभ्रमावती—महाराज की जो आज्ञा। (जाती है और मिथ्यादृष्टि को साथ लेकर आती है)

मिथ्यादृष्टि—सखि! महाराज का दर्शन किये बहुत दिन हो गये। कैसे उनका मुख देखूँगी? महाराज बिगड़ेंगे तो नहीं?

विभ्रमावती—सखि! तुम्हारे मुख का दर्शन कर महाराज स्वयं अपने को ही भूल जायँगे। फिर, बिगड़ेंगे कैसे?

मिथ्यादृष्टि—सखि! क्यों मेरे सौभाग्य की मंदता पर हँसती है?

विभ्रमावती—सखि! अपने सौभाग्य की मन्दता तू अभी तुरन्त देख लेगी। एक और बात है। मैं प्रिय सखी के नेत्रों

को निद्रा से आकुल देखती हूँ। तो, प्रिय-सखी के नेत्रों में निद्रा न आने का क्या कारण है?

मिथ्यादृष्टि—सखि! एक स्वामी-वाली जो स्त्री होती है उसको भी निद्रा दुर्लभ है। फिर, हमलोगों का क्या कहा जाय जिनका सकल संसार स्वामी है?

विभ्रमावती—प्रिय सखी के स्वामी कौन-कौन हैं?

मिथ्यादृष्टि—सखि! प्रथम तो महाराज, पश्चात् काम, क्रोध, लोभ और अहङ्कार। बस, अब आगे कहने का काम नहीं। इस कुल में जिस किसी का जन्म हुआ है—चाहे वह बालक हो, वृद्ध हो अथवा युवा—विना मुझको हृदय में धारण किये, क्या रात और क्या दिन, कोई कभी नहीं आनन्दित रह सकता।

विभ्रमावती—काम की रति, क्रोध की हिंसा, और लोभ की तृष्णा प्रियतमायें सुनी जाती हैं। तो नित्य रमण करने के कारण उन प्रियतमाओं को तुमसे ईर्ष्या नहीं होती?

मिथ्यादृष्टि—सखि! ईर्ष्या की बात क्या चलाती हो? उन्हें भी मेरे विना मुहूर्त्त-मात्र के लिये भी सन्तोष नहीं।

विभ्रमावती—सखि! इसी से तो मैं कहती हूँ कि तुम्हारी जैसी सौभाग्यवती इस पृथ्वीतल पर दूसरी नहीं हैं। तुम्हारे सौभाग्य-माहात्म्य से शोकाकुल-हृदय होकर स-पत्नियाँ भी तुम्हारी कृपा की अभिलाषिनी बनी रहती हैं। सखि! एक बात और है। तुम अत्यन्त निद्रित ही क्यों न हो, पर जब तुम महाराज के निकट जाओगी और तुम्हारे चरणों के नूपुरों की झनकार

होगी तब महाराज का हृदय भयभीत हो उठेगा। प्रिय सखि! मैं तो ऐसा ही समझती हूँ।

मिथ्यादृष्टि—इसमें भयभीत होने की कौन बात है? फिर, हम लोगों के लिये, जो महाराज से नियुक्त हैं, यह अविनय नहीं है। साथ ही, हे सखि! पुरुष-गण तो दर्शन-मात्र से प्रसन्न होते हैं। उनके आगे भला भय क्या?

महामोह—(देखकर) अहा! प्रिया मिथ्यादृष्टि पहुँच गई। यह तो—

॥ सार ॥

आलस-भरी नितम्ब-भार से, कर में हार उठाये।
पहिराने के छल से कुच-नख-अङ्कों को प्रकटाये॥
नील-कमल सम चितवन से जन-मन वश में निज लाती।
क्षण-क्षण प्रिय कर-कङ्कण को झनझन करती याँ आती!॥३६॥

विभ्रमावती—यही महाराज हैं। प्रिय सखि! पास जाओ।

मिथ्यादृष्टि—(पास जाकर) महाराज की जय हो! जय हो!

महामोह—प्रिये!

॥ दोहा ॥

पीवरोरु! मम अङ्क को, दे आलिङ्गन दान।
उमा-उमेश विलास की, मृगनयनी! छवि तान॥३७॥

मिथ्यादृष्टि—(मुस्काती हुई वैसा ही करती है)

महामोह—(आलिङ्गन-सुख नाट्य कर) अहा ! प्रिया के आलिङ्गन से मेरा नव-यौवन पुनः लौट आया !

॥ हरिगीतिका ॥

नव-वय-विलासोत्पन्न, सुख-प्रद परम पहले जो रहा।
वर-विविध-विषयानन्द से पूरित, मनोन्मादक महा॥
अति स्नेह से सम्पन्न तव आश्लेष से उपजा प्रिये !
पुनि है मनोज-विकार नूतन सम व्यथित मन को किये ॥३६॥

मिथ्यादृष्टि—महाराज ! मैं भी इस समय नवयौवना सी हो गई। महाराज के प्रति जो मेरा प्रेम है उसको काल कभी हटा नहीं सकता। आज्ञा हो, किस निमित्त महाराज ने मुझे स्मरण किया है।

महामोह—प्रिये !

॥ दोहा ॥

करे उसे ही स्मरण जन, जो उर बाहर राज।
तू मम हिय की भित्ति पर, लिखित-मूर्त्ति सम भ्राज ॥३७॥

मिथ्यादृष्टि—बड़ी कृपा।

महामोह—जिस तरह अङ्ग फैलाकर सर्वत्र विचर रही हो, वैसाही करो। एक बात और है। दासी-पुत्री श्रद्धा ने उपनिषद् को विवेक के साथ संगम कराने के लिये कुट्टिनी का भाव

धारण किया है। अतएव—

॥ अरिल्ल ॥

उस अकुलीना, प्रतिकूला को।
पापी, पापी-अनुकूला को॥
केश खींच कर राह दिखाओ।
झट पाखंड-पंथ पर लाओ॥३८॥

मिथ्यादृष्टि—इतनी बात के लिये स्वामी चिन्ता न करें।
वचन-मात्र से ही स्वामी की दासी श्रद्धा अखिल आज्ञा पालन करेगी। जब मैं उसे कहूँगी कि धर्म मिथ्या है, मोक्ष मिथ्या है, वेद-मार्ग मिथ्या है, सुख में विघ्न डालनेवाले शास्त्रों के वचन मिथ्या हैं, और स्वर्ग-फल मिथ्या है तब वह वेद-मार्ग को ही त्याग देगी, उपनिषद् को त्यागने की फिर बात क्या? पुनः विषयानन्द से मुक्त मोक्ष के दोषों को दिखला कर मैं सत्वर श्रद्धा को उपनिषद् से भी विरक्त कर डालूंगी।

महामोह—यदि ऐसी बात है तो प्राणप्रिया ने प्रिय और कमनीय कार्य्य किया! (पुनः आलिङ्गन कर चूमता है)

मिथ्यादृष्टि—महाराज के इस प्रत्यक्ष आचरण से मैं लजाती हूँ।

महामोह—अच्छा तो अब हम अपने आगार को चलें।

(सब जाते हैं)

तीसरा अङ्क ।

——※※——

(शान्ति और करुणा का प्रवेश)

शान्ति—(रोती हुई) माँ ! माँ ! तू कहाँ है ? मुझको प्रिय दर्शन दे—

॥ रोला ॥

निर्भय-मृग-युत बन-वसुधा, जल-स्रवत धराधर ।
पुण्य-स्थल, सुर-सदन, तपस्वी वैखानस वर ॥
रही प्रीति जिसकी इनमें सो गो कपिला सम ।
पड़ी श्वपच-पाषंड-हाथ में हा ! माता मम ! ॥१॥

अथवा तेरे जीवन की तो संभावना ही नहीं । क्योंकि—

॥ दोहा ॥

विना मुझे देखे नहीं, खान, पान औ स्नान ।
विना मुझे क्षण भी नहीं, श्रद्धा धारे प्राण ॥२॥

सो, श्रद्धा विना शांति का जीवन निन्दास्पद है । अतएव हे सखि, करुणा ! मेरे लिये चिता रचो जिससे पावक में प्रवेश कर मैं शीघ्र उसकी सहचरी बनूं ।

करुणा—(रोती हुई) सखि ! इस प्रकार विषम-वह्नि-ज्वाला-पूरित उल्का के समान असह्य अक्षरों को उच्चारण कर मुझको सर्वथा निष्प्राण कर रही हो। अतएव प्रिय सखि ! कृपा कर क्षणमात्र के लिये जीवन धारण करो। इस बीच मैं पुण्य-आश्रमों में, मुनिजनों की मंडलियों में, भागीरथी के तीर पर, इधर-उधर अच्छी-तरह अन्वेषण करती हूँ। कदाचित् महामोह के भय से कहीं किसी प्रकार छिप कर वह रह रही हो !

शान्ति—सखि ! क्या अन्वेषण करोगी। उसका अन्वेषण मैं कर चुकी हूँ—

॥ रोला ॥

पुलिन, नदी-तट, वैखानस का वास जहाँ है।
चारों आश्रम, याज्ञिक पुण्य-निवास जहाँ है॥
एक-एक को भली-भाँति मैंने जा देखा।
पाई कुछ भी नहीं कहीं श्रद्धा की रेखा ! ॥३॥

करुणा—सखि ! मैं यह कहती हूँ कि यदि वह सात्त्विकी श्रद्धा है तो उसकी इस प्रकार दुर्गति हो यह सम्भव नहीं जो उस प्रकार की पुण्यात्मा-सती हैं उन्हें इस भांति की विपत्ति का अनुभव असंभव है।

शान्ति—सखि ! जब विधाता प्रतिकूल होता है तब क्या नहीं होता ?

॥ हरिगीतिका ॥

श्री-रूप देवी जानकी दानव दशानन ने हरी।
वेद-त्रयी राक्षस खलों ने जा रसातल में धरी॥
छल से गया ले अमर-रिपु पातालकेतु मदालसा।
विधि की विषम औ वाम गति से हा! न को दुखमें फँसा!॥७॥

सो यह सब भाग्य के फेर से ही हुआ जानो। अच्छा तो पाषंड के घर अब हम दोनों चलें।

करुणा—सखि! यही सही। (दोनों इधर-उधर घूमती हैं) (आगे देख कर)

करुणा—सखि! राक्षस! राक्षस!

शान्ति—किधर? किधर?

करुणा—वह देखो। बीभत्स और भयानक रूप धारे वह इधर ही आ रहा है।

शान्ति—सखि! यह राक्षस नहीं है।

करुणा—तब यह है कौन?

शान्ति—सखि! मैं समझती हूँ कि कदाचित् यह पिशाच है।

करुणा—सखि! अपनी परम प्रखर किरणों से जगत् को जाज्वल्यमान् करते हुए प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रकाशमान् होते पिशाच का होना कब संभव है?

शान्ति—तो यह नरक-कुण्ड से तुरत का निकला हुआ कोई नारकी है। (देखकर और सोचकर) अरे, जाना! यह महामोह

का भेजा हुआ सोम-सिद्धान्त है। इसका दर्शन दूर से ही सर्वथा परित्याज्य है। (मुँह फेर लेती है)

करुणा--सखि! क्षण भर के लिये ठहर जाओ। इस बीच में मैं श्रद्धा को ढूंढ़ती हूँ। (दोनों खड़ी रहती हैं)

(कापालिक वेश में शिष्य के साथ सोम-सिद्धान्त का प्रवेश)

कापालिक--घूमता है। (आकाश की ओर देख कर) सुनो रे! सुनो!

॥ दोहा ॥

सकल सलिल से भी नहीं, मलमय-तन-मल जाय।
परम विमल यह आतमा, ऋषि-परिचरण लखाय ॥५॥

क्या कहते हो? ऋषि-परिचरण किस प्रकार का? तो सुनो—

॥ दोहा ॥

चरण-वन्दना दूर से, मिष्टाशन, सत्कार।
ऋषि-कृत रमणी-रमण में, लेश न द्वेष-विकार ॥६॥

(नेपथ्य की ओर देख कर) श्रद्धा! इधर आ।

(दोनों भयभीत हो देखती हैं)

(कापालिक के अनुरूप वेश में श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—महाराज की क्या आज्ञा है?

(शान्ति मूर्च्छित हो गिर जाती है)

कापालिक—हमारे कुटुम्ब का मुहूर्त्तमात्र के लिये भी तुम मत त्यागो।

श्रद्धा—महाराज की जो आज्ञा। (जाती है)

करुणा—शान्त हो, प्रिय सखी! केवल नाम से तुम मत डरो। क्योंकि मैंने "हिंसा" से सुना है कि पाखंडियों की भी एक श्रद्धा है जो तम की तनया है। सो यह तामसी श्रद्धा है।

शान्ति—(शान्त होकर) सखि! बात ऐसी ही है। क्योंकि—

॥ रोला ॥

जिसका है आचार दुष्ट अति भयंकरी जो।
नीच दुराशा, दम्भ, द्वेष औ दोष भरी जो॥
उस अम्बा का सके नहीं अनुकरण कभी कर।
है जिसका आचार शुभ्र औ मूर्त्ति मनोहर॥७॥

अच्छा तो अब तनिक आगे चला जाय।

(शान्ति और करुणा घूमती हैं)

(चन्दन-टीका किये हृष्ट-पुष्ट एक महंत का प्रवेश)

महंत—(विचार कर) हे, हे उपासको!

॥ कुसुम-स्तवक ॥

क्षण-भङ्गुर औ स्थिति-शून्य घटादिक-भाव
सभी यह जो विहरैं विहरैं।
नित अर्पित हो जिनमें, रह भीतर भी,
सम बाहर के लहरैं लहरैं॥

मृदु - मोद - विनोद - विलास - विभा व
कषाय बिहाय वही छहरें छहरें ।
कष-कल्मष-हीन अहो अब ज्योति-निधान
स्व-ज्ञान यहाँ फहरें फहरें ॥८॥

(झूम कर श्लाघा से) अहा ! कृष्णार्चन भी कैसा सुखद है ! धन्य वह रास-क्रीड़ा !

शिष्य—भगवन् ! यह कोई वैष्णव देख पड़ता है । यह क्या कह रहा है ज़रा सुना जाय । (दोनों सुनते हैं)

महंत—अहा ! महंत का जीवन क्या ही उत्तम है !

॥ सार ॥

सुन्दर सदन-निवास, वणिक-रमणी-गण मन अनुकूला ।
इच्छित समय इष्ट भोजन, शय्या, सु-मञ्ज़ु सुख-मूला ॥
श्रद्धा से जिनमें करतीं तरुणी उपासना रूरी ।
कटें चाँदनी चारु निशाएँ मदन-मोद से पूरी ! ॥९॥

करुणा—सखि ! इसकी दशा देख कर करुणा आती है ।

शान्ति—हा ! इस नीच की नीचता पर करुणा को भी करुणा आती है !

अरे, यह कोलाहल कैसा ?

(नेपथ्य में)

॥ दोहा ॥

त्याग प्राज्य स्वाराज्य को, निन्दा-रहित महान् ।
को यह पशुता चाहता, जग में ज्यों श्रीमान् ? ॥१०॥

महंत—नराधम ! हम संत-महंतों की संगति सदा प्रशंस-नीय है । क्योंकि—

॥ सरसी ॥

स्वल्प रूप यह जीव भला जो, देह-मात्र परिमाण ।
संगति बिना कर सके कैसे, तीन लोक का ज्ञान ? ॥
घट के भीतर धरा यत्न से, सुन्दर दीपक यार ।
घर की विविध वस्तुओं को क्या, कर सकता उँजियार ? ॥११॥

कापालिक—(चल कर)

॥ हरिगीतिका ॥

नर-हड्डियों का चारु भूषण औ निवास मसान में ।
नर के कपालों में सदा भोजन करूँ अति शान से ॥
प्रिय योग-अञ्जन-शुद्ध दृग से देखता हूँ सत्य को ।
जग भिन्न और अभिन्न है जगदीश से, न असत्य सो ॥१२॥

महंत—यह कौन आदमी कापालिक व्रत को धारण किये है ? इससे कुछ पूछूँ तो । (निकट जाकर) अरे कापालिक ! अरे, मनुष्य की अस्थि तथा मुंडमाला धारण करनेवाला ! तेरा धर्म किस प्रकार का है ? तेरा मोक्ष किस प्रकार का है ?

कापालिक—अरे वैष्णव ! हमारा धर्म्म सुन—

॥ वीर ॥

मेद-शिरा-मज्जा-परिपूरित, मनुज-मांस का करता होम।
ब्राह्मण के कपाल में करता मद्य-पान, अञ्चित हैं लोम! ॥
तत्क्षण काटे कठिन कंठ की रुधिर धार से शोभित, शोण।
नर-बलि से पूजित प्रभु भैरव, उनसे बढ़ा हुआ है कौन? ॥१३॥

महंत—(कान बन्द कर) राम! राम! यह कैसा कठोर धर्म्माचरण है! किसी घोर पापी ने इस आदमी को धोखा दिया है।

कापालिक—(क्रोध से) अरे पापी! पाषण्डाधम! चौदह भुवनों के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के जो प्रवर्त्तक हैं, और जिनका सिद्धान्त वेदान्त में विख्यात् है, भला वह भगवान् भवानीपति धोखेबाज़ हैं? अच्छा, इस धर्म्म की महिमा दिखलाता हूँ—

॥ ताटंक ॥

हरि-हर-ब्रह्मा श्रेष्ठ सुरों को अभी खींच कर मैं लाऊँ।
सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह की गतियों को रोकूं, क्लेश नहीं पाऊँ ॥
नग-नगरी से भरी भूमि यह अम्भ-पूर्ण कर दूँ मानो।
सकल सलिल को क्षणभर में फिर पी जाऊँ इसको जानो ॥१४॥

महंत—अरे, कापालिक! इसी से तो कहता हूं कि किसी इन्द्रजाली ने माया दिखला कर तुमको धोखा दिया है।

कापालिक—अरे पापी! फिर भी तू परमेश्वर को ऐन्द्र-जालिक कह रहा है? अब तेरी दुष्टता नहीं सही जाती। (खड्ग

खींच कर) तेरा अन्त ही कर डालूं—

॥ पंच चामर ॥

इसी कराल खड्ग से उड़ाय कंठ को अरे !
लहू प्रवाह से अभी सुफेन-बुद्बुदों भरे ॥
डमड्डमड शब्द दे, बुलाय भूत-वर्ग को।
करूँ सबों-समेत मैं प्रसन्न नारि भर्ग को! ॥१५॥

(खड्ग चमकाता है)

महंत—(भय से) महाभाग ! अहिंसा परमो धर्म्मः । क्षमा करें । क्षमा करें । महाराज ! कौतुक में प्रयुक्त वाक् कलह के कारण मुझ महात्मा पर प्रहार करना अनुचित है।

कापालिक—(खड्ग को वापस लेता है)

महन्त—(आश्वस्त हो) महाराज ! यदि आप ने अपनी रोष-राशि खींच ली और शान्त हैं तो मैं कुछ पूछना चाहता हूं।

कापालिक—पूछो।

महन्त—मैंने आप का परम धर्म श्रवण किया। पर आप के यहाँ सौख्य-प्रधान जो मोक्ष है वह किस प्रकार का है?

कापालिक—सुनो—

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

देखा मैंने न विषय बिना रञ्च भी सौख्य, ऐसे।
जीवों की है स्थिति प्रमुद से शून्य, हा मोक्ष कैसे ? ॥
गौरी-रूपा परम प्रमदा शम्भु के रूप भोगो !
पावेगा मोक्ष सुभग तभी—सोम-वाणी गहोगे ॥१६॥

महन्त—अरे कापालिक ! यदि कुपित न हो तो मैं कुछ और कहूं। शरीरधारी विषय-वासना रखता हुआ मुक्त हो—यह बात वेद-विरुद्ध है।

कापालिक—(स्वगत) मुँह से अभी तक यह अश्रद्धा प्रकट करता है। अच्छा, तो ऐसा करूँ कि इसका मन और मुँह एक हो जाय। (प्रकाश) श्रद्धा ! इधर तो आ।

(कापालिनी के रूप में श्रद्धा का प्रवेश)

करुणा—सखि ! देखो, देखो। यह श्रद्धा रजस की सुता है—

॥ सार ॥

अतिशय विकसित नीलोत्पल सम लोचन लाल विराजें।
मनुज-अस्थियों के निर्मित अति शोभन भूषण भ्राजें॥
पीन स्तन औ प्रिय नितम्ब के चारु भार से बाँकी।
पूर्ण चन्द्र सम मुख ! क्या छाजे विलासिनी की झाँकी ! ॥१७॥

श्रद्धा—(आगे आकर) मैं आ गई। स्वामी की क्या आज्ञा है ?

कापालिक—प्रिये ! इसको ग्रहण करो।

श्रद्धा—प्राण-नाथ ! इसको तो मैं पहले ही ग्रहण कर चुकी हूं। क्योंकि स्त्री वही है जो स्वामी के बिना कहे ही काम करे। तथापि, मैं इस आज्ञा की अवज्ञा नहीं कर सकती। फिर भी इसे ग्रहण

करती हूँ। और इस बार मन से नहीं, तन से। (हृदय लगाती है)

महन्त—(आनन्द के साथ अङ्क में साट, रोमाञ्च प्रकट करता हुआ दर्शकों से) अहा! इस कापालिनी का स्पर्श कैसा सुखद है!

॥ शोकहर ॥

अति प्रगाढ़ अनुराग युक्त निज युगल भुजाओं से धर के।
पति-विहीन बहु वामाओं को हृदय लगाया जी भर के॥
ले शत बार वैष्णवों की सौगन्द कहूँ पर बात सही।
कापालिनी कुचालिङ्गन सम मिला कहीं आनन्द नहीं॥१८॥

॥ द्रुतविलम्बित ॥

अयि सुपीन-घन-स्तन शोभने!
परम - त्रस्त - कुरङ्ग - विलोचने!
यदि स-प्रेम रमै रँग में रली!
कर सके कब क्या मम मंडली? ॥१९॥

अहा! कापालिकों के चरित्र कैसे सुन्दर हैं! सोम-सिद्धांत कितना प्रशंसनीय है! यह बड़े आश्चर्य का धर्म है! महाभाग मैंने रामानन्द के अनुशासन का सर्वथा परित्याग किया और परमेश्वर के सिद्धांत को स्वीकार किया। आप मेरे गुरु हुए मैं आप का शिष्य हूं। मुझको पारमेश्वरी दीक्षा दें। मुझे भी महा भैरव के अनुशासन में शिक्षित करें।

कापालिक—बैठो। (महन्त बैठता है)

(कापालिक पात्र लेकर ध्यान करता है)

श्रद्धा—भगवन्! यह पात्र सुरा से पूर्ण हो गया।

कापालिक—(पीकर बचा हुआ अंश महन्त को देता है)

॥ सोरठा ॥

अमृत परम पवित्र, भव-भेषज औ मोक्ष-प्रद।
पीओ मद यह मित्र! भैरव का उपदेश यह ॥२०॥

(महन्त कुछ विचार करता है)

महन्त—वैष्णव धर्म्म में मद-पान तो मना है। उस पर भी, ब्राह्मण होकर, कापालिक का जूठा मद कैसे पी लूँ?

कापालिक—(विचार कर दर्शकों की ओर) श्रद्धा! क्या विचारती है? इस महन्त की मूर्खता अभी तक नहीं गई। यही कारण है कि यह मेरे मुख से स्पर्श की गई सुरा को अपवित्र मानता है। अतः अपने मुख की सुगन्ध से इसको शुद्ध कर के उसके समीप उपस्थित कर। क्योंकि स्मार्तों की भी उक्ति है कि—"स्त्री-मुखं तु सदा शुचि।"

श्रद्धा—प्रभु की जो आज्ञा। (प्याले को लेकर और पीकर बचे हुए भाग को महन्त के समीप उपस्थित करती है)

महन्त—यह तो महाप्रसाद है! (प्याले को लेकर पीता है) वाह रे सुरा का सौन्दर्य्य!

॥ शिखरिणी ॥

अजी ! पी है मैं ने बहु समय वेश्या-सदन में ।
मुखोच्छिष्टा मिश्रा सुरभित सुरा, मोद-घन में ॥
सुकापाली-नारी-मुख-सुरभि से शुद्ध मदिरा ।
नहीं पाई जाती, सुर अमृत चाहें तब निरा ॥२१॥

कापालिक—प्रिये ! बिना दाम का यह एक दास प्राप्त हुआ । तो हम दोनों नाचें । (दोनों नाचते हैं)

महन्त—अहा ! यह कापालिक किंवा आचार्य्य कापालिनी के साथ किस सुन्दरता से नाच रहा है ! तो मैं भी इनके साथ नाचूँ । (नाचता है और नशे में गिरता है) (अयि सुपीन इत्यादि फिर गाता है)

महन्त—(कुछ सम्हल कर) आचार्य्य ! यह शास्त्र तो बड़े आश्चर्य्य का है जिससे बिना किसी क्लेश के सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं !

कापालिक—यह तो कुछ ही आश्चर्य्य देखते हो—

॥ शोकहर ॥

मेरे इस मत में विषयों को त्यागे बिना, बिना दुख के ।
अष्ट सिद्धियां सकल प्राप्त हैं, प्राप्त पदार्थ सभी सुख के ॥
वशीकरण, आकर्षण, मोहन, प्रशमन, प्रक्षोभण जितनी ।
[illegible] सिद्धियाँ वे तो ईश ध्यान में विपद घनी ॥२२॥

महन्त—(पुनः नशे के आवेश में) अरे कापालिक अथवा आचार्य्य, आचार्य्यराज, कुलाचार्य !

शिष्य—(मुस्कुराकर) भगवन् ! बिना अभ्यास के अतिशय मदिरा-पान से यह महात्मा अतीव उन्मत्त हो गया है। अतः आप इसका मद दूर करें।

कापालिक—अच्छा। (अपना जूठा पान महन्त को देता है)

महन्त–(स्वस्थ होकर) आचार्य्य ! मैं यह पूछता हूँ कि सुरा-आहरण में आपकी जैसी शक्ति है क्या वैसी ही शक्ति स्त्री-पुरुषों के आहरण में भी है ?

कापालिक—विशेष क्या पूछते हो ? देखो—

॥ इन्द्रवज्रा ॥

विद्याधरी शुभ्र सुराङ्गना वा।
नागाङ्गना यक्ष-वराङ्गना वा॥
चाहूँ, य तीनों जग में, जिसे ही ?
लाऊँ स्व-विद्या-बल से उसे ही ॥२३॥

महन्त—भाई ! मैंने जान लिया कि हम लोग सभी महामोह के किङ्कर हैं।

कापालिक—सो ठीक है।

महन्त—तो कुछ राजकार्य्य भी सोचना चाहिये।

कापालिक—सो क्या ?

महन्त—सत्त्व की सुता श्रद्धा को महाराज की आज्ञा से खींच लाना चाहिये।

कापालिक—कहो, वह दासी-पुत्री है कहां? विद्या-बल से अभी, बात की बात में, उसे खींचता हूँ।

महन्त—(कुछ सोचता है)

शान्ति—सखि! कुछ दुष्टों को अपनी माता के सम्बन्ध में बातें करते सुन रही हूं। अतः ध्यानपूर्वक सुनूँ।

करुणा—सखि! मैं भी ध्यान देकर सुनती हूं। (दोनों कान लगा कर सुनती हैं)

महन्त—(स्वगत) तो अब सब भेद खोल दूँ।

(प्रकाश)

॥ सिंह ॥

जल में नहीं, नहीं सो थल में।
गिरि-गह्वर में नहीं सुतल में॥
सहित सु-विष्णु-भक्ति के बसती।
हिय में सन्त-जनों के लसती॥२४॥

करुणा—(आनन्द से) सखि! सौभाग्य से श्रद्धा, देवी विष्णु-भक्ति के पार्श्व में, विराजती है।

शान्ति—(हर्ष से नाचती है)

शिष्य—और वह धर्म्म, जिसने काम से मुख मोड़ लिया है, कहाँ बसता है?

महन्त—

॥ सिंह ॥

जल में नहीं, नहीं सो थल में।
गिरि-गह्वर में नहीं सुतल में॥
सहित सु-विष्णु-भक्ति के बसता।
हिय में संत-जनों के लसता॥२५॥

कापालिक—(विषाद से) आह ! महाराज महामोह पर महा कष्ट आ पड़ा—

॥ ताटंक ॥

देवी विष्णु-भक्ति बोधोदय की है मूल सदा न्यारी।
सत्त्व-सुता श्रद्धा वह है उसकी ही अनुव्रता भारी॥
मनसिज-मुक्त धर्म्म भी हो यदि वाँ अपना डेरा डाले।
तो विवेक का कार्य्य सिद्ध सब, भला कौन उसको टाले?॥२६

तथापि, प्राण देकर भी, प्रभु का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये अतएव धर्म्म और श्रद्धा को पकड़ने के लिये महा भैरवी विद्या को भेजता हूँ। (सब जाते हैं)

शान्ति—हम दोनों भी जाकर इन दुष्टों के व्यवसाय को देवी विष्णु-भक्ति के समीप निवेदन करें। (दोनों जाती हैं)

——:*:——

चौथा अङ्क ।

—:o:—

(मैत्री का प्रवेश)

मैत्री—मैंने मुदिता से सुना है कि भगवती विष्णु-भक्ति ने महा भैरवी के त्रास के भय से प्रिय सखी श्रद्धा का परित्राण कर दिया है। सो, इस उत्कण्ठित हृदय से प्रिय सखी श्रद्धा को कब देखूंगी ? (घूमती है)

(श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—(भय से कांपती हुई)

॥ शोकहर ॥

नर-कपाल के कुण्डल पहने, दृग से चमकाती चपला।
ज्वलन-ज्वाल सम कपिश कचों से बनी बड़ी विकराल, बला॥
चन्द्रकला-अङ्कुर-दशनों में जिसकी रसना राज रही।
देखी ऐसी महा भैरवी ! काँप रही हूँ, होश नहीं ॥१॥

मैत्री—(स्वगत) अरे ! यह मेरी प्रिय सखी श्रद्धा है ! भयाभिभूत हृदय में उत्पन्न कम्प के कारण इसके अङ्ग चञ्चल हो रहे हैं। यह कुछ विचार रही है। सम्मुख आने पर भी मुझ को नहीं देखती। तो ज़रा इससे बोलूँ। (प्रकाश) प्रिय सखी !

श्रद्धे ! यह क्या ? तुम्हारा हृदय इतना शोकाकुल है कि मुझको भी नहीं देखती ?

श्रद्धा—(देख कर और साँस लेकर) अहा ! यह मेरी प्रिय सखी मैत्री है ?

॥ लीला ॥

काल-रात्रि के कराल ।
वदन-दंष्ट्र से विशाल ॥
निकल, अन्य जन्म पाय ।
देखती तुम्हें अघाय ! ॥२॥

अतः आओ । मुझसे भर अङ्क मिलो ।

मैत्री—(वैसा करके) सखि ! जिसका प्रभाव विष्णु-भक्ति द्वारा दलित हो गया है वैसी महा भैरवी के भय से तेरे अङ्ग अभी तक क्यों काँप रहे हैं ?

श्रद्धा——(नर-कपाल इत्यादि पुनः पढ़ती है)

मैत्री—(भय से) धिक् दुष्टे ! घोरदर्शने ! अच्छा तो उसने आकर क्या किया ?

श्रद्धा—

॥ मत्त-समक ॥

श्येन-प्रगति से उतर धरा पर ।
युगल पदों में मुझको धर कर ॥
बायें कर से पकड़ धर्म्म को ।
गृध्री सदश गगन उड़ी सो ॥३॥

मैत्री—हा धिक्! हा धिक्! (मूर्च्छित होती है)

श्रद्धा—सखि! शान्त हो। शांत हो।

मैत्री—(शांत होकर) तब क्या हुआ?

श्रद्धा—तब मेरे घोर आर्त्तनाद से दयार्द्र हो—

॥ शोकहर ॥

भृकुटी-भंग, शोण दृग दोनों, कठिन कोप से कुटिल बना।
दृष्टिपात उन देवी ने जिस ही क्षण किया अमर्ष-सना॥
वज्रपात से खंडित शैल-शिला के सदृश उसी घड़ी।
होकर जर्जर-जीर्ण-शीर्ण-शिर, गिरी मही पर दुष्ट, सड़ी!॥४॥

मैत्री—क्रुद्ध व्याघ्र के मुख से भ्रष्ट मृगी के सदृश कुशल से जीती हुई प्रिय सखी को मैंने सौभाग्य से देखा!

श्रद्धा—तदनन्तर तत्क्षण समुत्पन्न दृढ़-संकल्प-पूर्वक देवी ने यों कहा—"मेरी भी अवमानना कर वह पापिष्ठ, प्रेत महामोह कुचेष्टाएँ कर रहा है। अतएव अब मैं उसका समूल उन्मूलन करूँगी।" पुनः देवी ने मुझे यह आदेश दिया कि, "श्रद्धे! तू जा और विवेक से कह दे कि वह काम क्रोधादिकों पर विजय-प्राप्ति के निमित्त उद्योग करें। तब वैराग्य का प्रादुर्भाव होगा। साथ ही, समुचित समय पर मैं प्राणायाम, नाम-कीर्त्तन प्रभृति से तत्त्वविचारादि तुम्हारी सेना की रक्षा करूँगी। ऋतंभरा आदि देवियाँ, शान्ति आदि कौशल द्वारा उपनिषद्-संगम-प्राप्त विवेक में, अज्ञान-जन्य-आवरण-विनाश के उपरान्त, प्रबोध का उदय करेंगी।" सो,

मैं इस समय विवेक के पास जाती हूँ। किन्तु तू किस कार्य्य में संलग्न रह कर दिवस व्यतीत करेगी ?

मैत्री—हम चारों बहन भी, विष्णु-भक्ति की आज्ञा से, विवेक की सिद्धि के निमित्त, महात्माओं के हृदय में निवास करेंगी—

॥ सार ॥

ध्यावे सुख में मैत्री को, औ दुख में अनुकम्पा को।
पुण्य-क्रिया में मुदिता को, दुर्मति में सु-उपेक्षा को ॥
राग-लोभ-द्वेषादि-दोष से कलुषित जीव महा जो।
इस प्रकार पावे प्रसन्नता, परिपूर्णता अहा ! सो ॥५॥

इस भाँति हम चारों बहन विवेक के अभ्युदय-साधन में ही काल-यापन करेंगी। प्रिय सखी ! तू महाराज विवेक को इस समय कहाँ पा सकती है ?

श्रद्धा—देवी ने मुझ को यों कहा था—"राढ़ा नाम का एक देश है। वहाँ भागीरथी के तीर पर चक्र-तीर्थ है। उस स्थल पर मीमांसा-निरत मति के साथ किसी प्रकार अपने प्राण धारण करते हुए, आतुर अन्तरात्मा से, विवेक, उपनिषद् देवी के संगमार्थ, तपस्या कर रहे हैं।"

मैत्री—तो प्रिय सखी ! तू जा। मैं भी अपने कर्त्तव्य में लगूँ।

श्रद्धा—अच्छा। (दोनों जाती हैं)

विष्कम्भक ।

(राजा और प्रतीहारी का प्रवेश)

राजा—आह ! नीच, पापी महामोह ! तू ने सब भांति संतों को भ्रष्ट किया—

॥ सुन्दरी ॥

शुचि, शान्त, अनन्त, तरङ्ग-विहीन,
सु-निर्मल, ज्ञान-स्वरूप महा जो ।
उस अमृत-अम्बुधि में चिर मग्न रहे,
पर रञ्च गहे न हहा ! जो ॥
मृग-तोय-पयोनिधि में नित पामर,
पीड़ित हो अति, आतमहा जो ।
उनमज्जन, मज्जन, क्रीड़न, पान,
सु-स्नान करे मति-हीन अहा सो ! ॥६॥

अथवा, संसार-चक्र के संचालक महामोह का मूल अ-बोध है, और उसका निवारण तत्त्व-बोध से ही हो सकता है। क्योंकि—

॥ पद्धरि ॥

संसार-विटप अज्ञान-मूल ।
नाशन निमित्त सब विधि समूल ॥
जगदीशाराधन-जन्य ज्ञान ।
तज, अन्य उपाय नहीं विधान ॥७॥

॥ दोहा ॥

प्रायः पुण्य सु कर्म्म में, होते देव सहाय।
निज भ्राता भी कुपथ से, देता तुरत हटाय॥

इस प्रकार तत्त्व-वेत्ता कहा करते हैं। पुनः देवी विष्णुभक्ति ने आदेश दिया है कि "कामादिकों पर विजय-प्राप्ति के निमित्त उद्योग करो। मैंने भी तो आप का पक्ष ग्रहण किया है।" अस्तु, काम जो प्रधान वीर है वस्तु-विचार से ही जीता जा सकता है। सो, उसी को इस पर विजय प्राप्त करने के लिये निदेश देता हूँ। प्रतीहारी! वस्तु-विचार को बुला।

प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा। (जाती है और वस्तु-विचार को लेकर आती है)

वस्तु-विचार—हा! विचार-शून्य, सौन्दर्य्याभिमान से समुन्नत होनेवाला काम-प्रेत किम्बा दुरात्मा महामोह द्वारा यह समस्त संसार छला गया—

॥ मनहरण ॥

यह है मनोरमा, कमल-लोचना है यह,
विपुल-नितम्ब-भार से सुहावनी बनी।
पीन और उन्नत-उरोज-वाली यह चारु
मुख-अरविन्द-वाली भ्रुकुटी लुभावनी॥
मस्त, उनमत्त हो, मुदित हो, रमण करे,
स्तवन करे सदा सुबुध भी सुधी-धनी।

यों प्रत्यक्ष अपवित्र पुतली को पेख-पेख—
मोह की अजब करतूत नीच करनी ! ॥८॥

पुनः नारी मांस-पङ्क-निर्मित, अस्थि-पञ्जर-मय, स्वभाव से दुर्गन्ध-युक्त और बीभत्स वेष-वाली है ऐसा विचार कर वस्तु को यथातथ्य विचार करने वाले, प्रखर बुद्धि के पुरुषों को भी वैराग्य नहीं होता। कारण, यहाँ अपर गुणों का स्पष्ट आरोपण होता है—

॥ जलहरण ॥

मुक्ता-माल, मणिमय कंचन के नूपुर जो,
रुनझुन-रुनझुन कर नित मोहैं मन।
कुङ्कुम के अङ्गराग, सुमन-सुरभि शुभ,
चित्र और विचित्र हार सुभग-सुहावन॥
रङ्ग-रङ्ग वसन, ओढ़नी—रमणी में रम्य
य रमणीयता दी मन्द-धी-जनों ने भावन।
बाहर ओ भीतर जो पेखे अवरेखे वही,
सु नारी मिस नारक रचा है चतुरानन !॥९॥

(आकाश में) अरे पापी काम ! अरे चाण्डाल ! आलम्बन के बिना ही तू क्यों आदमी को आतुर करता है? वह सोचता है कि—

॥ हरिगीतिका ॥

है चाहती बाला मुझे यह, शशिमुखी यह देखती।
यह नील-कमल-विलोचना आलिङ्गनार्थ निरेखती॥

अरे मूढ़ !

को चाहती ? को देखती ? मांसास्थि की नारी बनी।
वह है अचेतन, जन अचेतन समझता सुख से सनी ॥१०॥

प्रतीहारी—महाभाग ! इधर पधारें। (दोनों आगे आते हैं)

प्रतीहारी—महाराज यहीं बैठे हैं। उनके पास जाइये।

वस्तु विचार—(पास जाकर) महाराज की जय हो ! यह वस्तुविचार प्रणाम करता है।

राजा—यहाँ बैठिये।

वस्तुविचार—(बैठ कर) हे देव ! आप का दास उपस्थित है। आज्ञा देकर उसे अनुगृहीत करें।

राजा—महामोह के साथ हम लोगों का संग्राम छिड़ा हुआ है। उसका प्रधान वीर काम है। उसकी प्रतिवीरता के लिये हमने आप को निरूपित किया।

वस्तुविचार—मैं धन्य हूँ कि स्वामी द्वारा मैं ही सम्मानित हुआ।

राजा—तो आप किस शस्त्र-विद्या द्वारा काम को जीतेंगे ?

वस्तुविचार—पञ्चशर पुष्पधन्वा काम को जीतना है। तो क्या इसमें भी शस्त्र-ग्रहण की आवश्यकता है ?

॥ वीर ॥

किसी भांति दृढ़ता से झट-पट, करके मन्मथ-मार्ग निरोध।
ललना-स्मरण और दर्शन-आलिङ्गन का उर कर के रोध॥
मलीनता, भोगान्त-विरसता का कर प्रति-क्षण चिन्तन-ध्यान।
फोड़ूं जड़ से अभी काम को, पाऊँ उस पर विजय महान ॥११॥

राजा—वाह ! वाह !

वस्तु विचार—और भी—

॥ विष्णुपद ॥

विपुल पुलिन से पूर्ण मनोहर, सरितायें सुखदा ।
शैल-शिलायें निर्झर-मसृण, द्रुम-मय वन-वसुधा ॥
शान्ति-गिरायें वेद-व्यास की, सुमति-समागम हों ।
तो है मांसमयी महिला क्या ? क्या मन्मथ यम सो ? ॥१२॥

काम के प्रधान अस्त्र का नाम नारी है। अतएव उसको जीतने पर उसके सकल सहाय विफल-प्रयत्न होकर पराजित हो जायँगे। पुनः

॥ वाम ॥

चन्दन, चन्द, सुचन्द्र-छटा-छवि से अति उज्ज्वल चारु निशायें ।
मलिन्द मनोहर-शब्द-समेत, सु-मञ्जु विलास-निकुञ्ज-दिशायें ॥
वसन्त, घटामय वासर औ मृदु मन्द समीर, सु-भोग-दशायें ।
सभी यह काम सहाय जिते, यदि नारि जिती; सब शोक नशायें ॥१३॥

बस, अब अधिक विलम्ब न किया जाय। स्वामी आदेश दें—

॥ पञ्च चामर ॥

विचार-बाण-वृष्टि से दिशा समस्त घेर के ।
विनाश शत्रु-सैन्य को, कहूँ य बात टेर के ॥
स-शक्ति सिन्धुराज को सु-पार्थ ने हना यथा ।
तुरंत आज दुष्ट काम वाम को हनूँ तथा ।१४॥

वस्तु-विचार—देव का जो आदेश।

(प्रणाम कर के जाता है)

राजा—वेत्रवती ! क्रोध को जीतने के लिये केवल क्षमा को बुला लो।

प्रतीहारी—देव की जो आज्ञा। (जाकर क्षमा के साथ आती है)

क्षमा—

॥ वीर ॥

क्रोध-तिमिर भ्रू-भंग-तरंगों से जो बना हुआ है भीम।
सन्ध्या की दिनकर-किरणों सम दृष्टि भयङ्कर-अरुण-असीम॥
ऐसे अरिकृत अपवादों को सहते वीर-धीर-धीमान।
निस्तरंग-निश्चल-निर्मल औ गहन-गभीर समुद्र समान॥१५॥

(श्लाघा से अपने को देख कर)—मैं धन्य हूँ !

॥ रोला ॥

वादों की हो ग्लानि नहीं, शिर शूल न व्यापे।
अङ्ग भङ्ग हो नहीं, ताप से चित्त न काँपे॥
हिंसा आदि अनर्थ-योग भी यहाँ नहीं है।
क्रोध-विजय हित क्षमा एक ही श्लाघ्य सही है॥१६॥

(दोनों आगे चलती हैं)

प्रतीहारी—यही महाराज हैं। प्रिय सखि ! उनके समीप जा।

क्षमा—(पास जाकर) महाराज की जय हो ! जय हो ! महाराज की यह दासी क्षमा साष्टाङ्ग प्रणाम करती है।

राजा—क्षमा ! आओ, यहां बैठो ।

क्षमा—(बैठकर) महाराज आज्ञा दें। यह दासी किस लिये बुलाई गई ?

राजा—इस संग्राम में दुरात्मा क्रोध को तुम जीतो ।

क्षमा—महाराज की आज्ञा से महामोह को भी जीतने के लिये हम पर्याप्त हैं। फिर उसके अनुचर-मात्र क्रोध की कौन सी बात है ? हम शीघ्र ही—

॥ वसन्ततिलका ॥

पापी महान, बिन कारण विघ्नकारी ।
स्वाध्याय-देवपितृयज्ञ-जपादि-दारी ॥
अग्नि-स्फुलिंग जिसके दृग नित्य झारें ।
दुर्गा यथा महिष, क्रोध दलें विदारें ॥१७॥

राजा—क्षमा ! क्रोध-विजय के उपाय को सुनना चाहता हूँ ।

क्षमा—देव ! प्रकट करती हूँ—

॥ बरसात ॥

क्रोध बढ़े मुख हास्य कढ़े, पुनि क्रोध बढ़े मन मोद बढ़ाइये ।
गालि-प्रदान जभी कुशलादिक, ताड़न में अघ-नाशन ध्याइये ॥
हा ! नर पामर ! इन्द्रिय-चाकर ! घोर दशा तव क्योंकर ढाइये ? ।
यों करुणार्द्र हृदय जिसका उसके ढिग क्रोध कहाँ कब पाइये ? ॥१८॥

राजा—वाह ! वाह !

क्षमा—महाराज ! क्रोध पर विजय से ही हिंसा, परुषता, मान, मात्सर्य्य आदि भी सभी विजित हो जायँगे।

राजा—तो तुम विजय के लिये संनद्ध हो।

क्षमा—महाराज की जो आज्ञा। (जाती है)

राजा—(प्रतीहारी से) वेदवती! लोभ को जीतनेवा[ले] सन्तोष को बुलाओ।

प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा।

(जाकर सन्तोष के साथ आती है)

सन्तोष—(सोचकर दयार्द्र भाव से)

॥ सुख ॥

मन के अनुकूल बने बन क्लेश बिना तरु के फल चित्त लुभावन।
सरितावर के शुचि शीतल मञ्जुल अम्बु थले थल शुभ्र सुहावन।
द्रु-लता प्रिय पल्लव कोपल की अति कोमल सेज हृदय हुलसावन।
इतना रहने पर भी नित दीन धनी-जन-द्वार सहें दुख बावन!॥१६॥

(आकाश में) अरे मूर्ख! लोभी! तेरा मोह दूर हो[ना] कठिन है।

॥ शिखरिणी ॥

हुई वाञ्छायें हैं तव बहुत ही वार विफला।
पशो! प्यासा भारी सुधन-मृगतृष्णा-सलिल का॥
मरी तौ भी आशा न हृदय हुआ टूक शतधा।
बना है सो निस्संशय अशनि से पूर्ण दृढ़ हा!॥२०॥

तुझ लोभान्ध की यह चेष्टा चित्त में आश्चर्य उत्पन्न करती है! क्योंकि—

॥ शोकहर ॥

है यह लभ्य, लब्ध यह, इसको और अधिक मैं कर डालूँ।
पुनः मूलधन से सुवृद्धि पुनि काल-वृद्धि धन को पालूँ॥
हे धन-ध्यायी! महालोभ के अन्धकार से नित्य घिरे!
ध्यान नहीं आशा-पिशाचिनी मार चुकी, तुम मीत मरे! ॥२१॥

पुनः

॥ रोला ॥

बहुत कष्ट औ संकट से जन धन पाता है।
व्यय-विनाश इसका अवश्य, यों दुख लाता है॥
अनुत्पत्ति औ नाश युगल में क्या तब उत्तम?
नाश वेदना दे भारी, अनुपार्जन में कम ॥२२॥

पुनः

॥ हरिगीतिका ॥

है मृत्यु सिर पर नाचती नित, सर्पिणी ग्रसती जरा।
प्रिय पुत्र-मित्र-कलत्र आदिक गृध्र से फिर तू घिरा॥
खल लोभ का अज्ञान-मय मल ज्ञान-जल से जो धुले।
सन्तोष-अमृत-सिन्धु में तथा मग्न हो सुख तो मिले ॥२३

प्रतीहारी—स्वामी यही हैं। श्रीमान् इनके पास पधारें
(वैसा कर के)

सन्तोष—स्वामी की जय हो! जय हो! यह सन्तोष प्रण
करता है।

राजा—यहां बैठिये। (अपने समीप बैठाता है)

सन्तोष—(विनय पूर्वक बैठकर) दास उपस्थित है। उ
आज्ञा दी जाय।

राजा—आप का प्रभाव प्रकट है। तो आप यहाँ विलम्ब
करें। लोभ को जीतने के लिये वाराणसी जायँ।

सन्तोष—महाराज की जो आज्ञा। हम और क्या कहें?

॥ वीर ॥

नाना मुख जिसके, त्रिलोक का जो विजयी बलवीर महान।
देव द्विजाति्क के बध-बन्धन में ही जिसका कीर्त्ति-वितान॥
उस विकराल लोभ-रावण को अपने बल-विक्रम से जीत।
रामचन्द्र के सदृश चूर्ण-विचूर्ण करे सन्तोष अजीत!॥२४॥

(जाता है)

(विनीत वेश में पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—हे देव! विजय-प्रयाण के लिये सकल मंगल-विधियाँ
समाप्त हो चुकीं। ज्योतिषी का कहा हुआ प्रस्थान-समय
समीप है।

राजा—यदि ऐसा है तो सेनापति-गण सेना-प्रस्थान के निमित्त
आदेश दें।

पुरुष—महाराज की जो आज्ञा। (जाता है)

(नेपथ्य में)

हे सैनिको!

॥ मनहरण ॥

कुम्भ-मद-मदिरा-प्रमत्त चंचरीक राजें
ऐसे भीम भीषण गजेन्द्र युक भ्राजिये।
किया है पराजित प्रभंजन प्रचण्ड निज
वेग से हयों से ऐसे स्यन्दन सुसाजिये॥
कमनीय कुन्त के समूह से सुभग नील
नीरज के वन सम दिशाओं को छाजिये।
आगे चलें पैदल औ कर में कृपाण लिये
सुन्दर सवार, चल रिपु पर गाजिये॥२५॥

राजा—अच्छा! मंगल की विधियां समाप्त हो गईं तो अब प्रस्थान करूँ। (पारिपार्श्वक से) सारथि को संग्राम का रथ सज कर लाने कहो।

पारिपार्श्वक—महाराज की जो आज्ञा। (जाता है)

(रथ लेकर सारथि आता है)

सारथि—महाराज! रथ तयार है। कृपा कर सवार हों।

(राजा मंगल-विधियों का सम्पादन कर रथ पर सवार होता है)

सारथि (रथ के वेग को दिखला कर)—आयुष्मन्! देखिये! देखिये!

॥ चंचला ॥

धूल का वितान ही बता तुरंग की उड़ान।
धा रहे, खुरों से भूमि चूमते समेत शान॥
दे रहे महान घोर शब्द सिन्धु के समान

यह त्रिभुवन पावनी वाराणसी नगरी निकट ही दृष्टिगोचर हो रही है। स्थान सब कैसे सुन्दर हैं—

॥ शिखरिणी ॥

सुधारा-यन्त्रों की शुचि-सलिल-झंकार जिनमें।
सुधांशु-ज्योत्स्ना से धवलित महा हर्म्य-गण में॥
पताकायें प्यारी शुभ शरद् के शुभ्र घन की
तड़ित् शोभाओं को वितरण करें चारु धन सी!॥२७॥

निकट ही, नगर की चारों ओर उद्यान हैं। जहाँ प्रत्येक कली में लीन भौंरे गूंज रहे हैं, पुष्पों के विकास से निकले पराग-बिन्दुओं की वृष्टि हो रही है, सुमनों की सुगन्ध से युक्त नीले और घने छाया-द्रुम शोभायमान् हैं! यहाँ पवन भी धूल-धूसरित हो पाशुपत व्रत धारण किये हुए तपस्वियों की तरह देख पड़ते हैं—

॥ हरिगीतिका ॥

सुर-सरित में कर स्नान औ सित हो मधुर मकरन्द से।
च्युत सुमन से शिव-अर्चना करते हुए आनन्द से॥
मृदु मधुप गुंजन से स्तवन पढ़ते हुए अति प्रेम से।
चंचल-लता-भुज से पवन हैं नृत्य करते नेम से!॥२८॥

राजा (आनन्द से देख कर)—

॥ मनहरण ॥

अन्धकार नाश पर आतम-प्रकाश-रूप
आनन्द को धारे मुक्तिदायिनी लुभावनी।

चंद्र-चूड़ की पुरी सुचित्त को हरण और
करषण कर रही विद्या सम पावनी ॥
पुण्य भूमि-कंठ में प्रलम्बमान ओ कुटिल
मुक्ता-माल तुल्य जहाँ जाह्नवी सुहावनी।
वक्र विधु-कला पर हँस रही निज शुभ्र
फेन के समूह से सुजन-मन-भावनी ! ॥२९॥

सारथि (रथ आगे हाँक कर) आयुष्मन्! देखिये देखिये! विष्णुपदी के तीर का अलङ्कार-स्वरूप अनादि आदि-केशव भगवान् विष्णु का यह पावन मन्दिर !

राजा (हर्ष से) अहा !

॥ दोहा ॥

क्षेत्र-आतमा नाम से, यही देव हैं व्याप्त।
यहाँ देह तज भक्त जन, जिनको होते प्राप्त ॥३०॥

सारथि—आयुष्मन्! देखिये! देखिये! ये काम, क्रोध, लोभ आदिक हम लोगों के दर्शन-मात्र से यहाँ से दूर भागे जा रहे हैं।

राजा—ठीक है। अच्छा तो अपनी अभीष्ट-सिद्धि के निमित्त भगवान् को प्रणाम करूंगा। (रथ से उतर, भीतर जा और देख कर) भगवान् की जय हो! जय हो! जिनके चरण-नीरज अमर-मंडल की मुकुट-मणियों से नीराजित होते हैं; जिनका स्वर्ण-सिंहासन प्रकाशमान् नख द्योत रूपी खद्योत गण के कारण चित्र-विचित्र ज्योति से सम्पन्न है; फैली हुई द्वैत-भ्रान्ति से सन्तत भक्त-जनों की संसार रूपी निद्रा को विनाश करने में जो एकमात्र प्रवीण हैं; वसुन्धरा के उद्धार के समय परस्पर के संघर्ष-संयुत

शैल-समुदाय जिनके दाँतों पर विराजमान थे; जिन्होंने तीन पग में तीन लोक घेर लिये थे; जिन्होंने अपने प्रबल बाहु बल से गोवर्द्धन रूपी छत्र को धारण कर उसके द्वारा इन्द्र के असमय में भेजे हुए प्रलय-कालीन मेघों के घोर वर्षण का निवारण किया था और इस भाँति भयाकुल यदुकुल का परित्राण कर विश्व को विस्मित कर दिया था; जो प्रभु सुरारि-नारियों की माँग के सिन्दूर रूपी सन्ध्या-मयूख की छटा के मिटाने में प्रसिद्ध तेज के धारण करने वाले हैं; त्रस्त हुए दैत्य-राज के वक्षः स्थल-तट के विदारण में अकुण्ठित औ दीप्तिमान् नखों से युक्त निज युगल करों द्वारा निस्सृत औ प्रसरित शोणित-समुद्र में जिन्होंने त्रिजगत् के निमग्न कर दिया था; त्रिभुवन-रिपु मधुकैटभ के स्थूल कंठ के अस्थि-कूट-कर्त्तन से प्राप्त प्रख्यात सुदर्शन चक्र की जाज्वल्यमान् ज्योति से जिनकी चारों भुजायें भासमान हैं; जिनके मृगाङ्क-मौलि प्रिय हैं; परम प्रचण्ड भुज दण्ड द्वारा संचालित मंदराचल से मंथित दुग्ध-सिन्धु से आविर्भूत लक्ष्मी की भुजाओं को आलिङ्गन करने के कारण पीन-स्तन में परिलग्न पत्रावली से जिनका उरःस्थल अङ्कित है; पुनः स्थूल मुक्ताफलों के वृहत् हार के प्रभा-मण्डल से जिनका कण्ठ सुशोभित है ! हे चिदानन्द-सन्दोह ! भक्त-समूह के संसार-संमोह के बेधने वाला बोधोदय मुझ को प्रदान करें । हे देव ! मैं आप को प्रणाम करता हूं । (चलना नाट्य कर और चारों ओर देख कर) मेरे निवास के लिये यही उचित एवं उत्तम देश है । अतएव यहाँ ही सेनाओं को स्थापित करूं । (दोनों जाते हैं)

पाँचवाँ अङ्क ।

(श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—(सोच कर) यह तो प्रसिद्ध प्रणाली है कि—

॥ रोला ॥

बन्धु जनों का वैर-जन्य जो क्रोध अपावन ।
कुल समस्त विध्वस्त करे वह उर-विद्रावण ॥
ज्यों संघर्षण-जनित भूमिरुह-ज्वलन भयङ्कर ।
कर देता है जला-जला कर भस्म विपिन वर ॥१॥

(आँसू भर कर) आह ! बन्धु-वियोग-जन्य शोकाग्नि ऐसा और दुर्निवार्य्य होता है कि शत-शत विवेक-वारिद् भी शान्त नहीं कर सकते । सच है—

॥ सार ॥

मही, महीधर महा महोदधि ध्वंसमान जब सारे ।
टूटे तृण सम स्वल्प जन्तु की मृत्यु कौन तब टारे ? ॥
तदपि विवेक-विनाशक बन्धु-निधन से जन्मा भारी ।
शोक-दहन करता सुदग्ध है हिय को दुसह दवारी ॥२॥

जिस कारण इस प्रकार की क्रूर प्रकृति रखने पर भी काम-आदि भ्राताओं के काल-कवलित होने पर—

॥ दोहा ॥

अहह ! मर्म छेदन करे, शोषण करे शरीर ।
अन्तः करण दहन करे, शोक-वह्नि गंभीर ॥३॥

(सोच कर)—देवी विष्णु-भक्ति से आदेश मिला है कि, "वत्से, श्रद्धे ! मैं यहाँ हिंसा-प्राय रण-दर्शन से पराङ्मुख हूँ। अतएव वाराणसी छोड़कर शालिग्राम नाम के भगवत् क्षेत्र में कुछ काल रहना चाहती हूं। जो वृतान्त हो तू आकर मुझको कह सुनाना।" इस कारण मैं देवी के समीप जाकर इस समग्र समर-सन्देश को सूचित करूँ। (चलकर और देख कर) यह चक्र-तीर्थ है जहां संसार-सागर से पार उतारनेवाली नौका के कर्णधार भगवान् विष्णु स्वयं निवास करते हैं। (प्रणाम कर) यह महा-मुनियों से उपास्यमान् भगवती विष्णु-भक्ति शान्ति के साथ कुछ मंत्रणा कर रही हैं। तो पास चलूँ। (जाती है)

(विष्णु-भक्ति और शांति का प्रवेश)

शान्ति—हे देवी ! मैं आप को कुछ ऐसी पाती हूँ मानो आप का हृदय प्रबल चिन्ता से आकुल हो।

विष्णुभक्ति—वत्से ! इस घोर संग्राम में, जिसमें बड़े-बड़े वीर विनाश को प्राप्त हुए और जिसमें वत्स विवेक पर बलवान् महामोह द्वारा आक्रमण हुआ था, न जाने उस वत्स की क्या दशा हुई। इसी से मेरा चित्त चिन्तित सा है।

शांति—इसमें चिन्ता की कौन बात है ? मैं जानती हूँ कि यदि आप का अनुग्रह है तो राजा विवेक की विजय निश्चित है।

विष्णुभक्ति—वत्से !

॥ दोहा ॥

यद्यपि प्रायः अभ्युदय, धर्म्म पक्ष से सिद्ध।
तदपि सुहृद-हृदय रहे, बहु शङ्का से बिद्ध ॥७॥

विशेष कर श्रद्धा का न आना मन में संशय उत्पन्न करता है।

श्रद्धा—(पास जाकर) भगवती ! प्रणाम।

विष्णुभक्ति—श्रद्धे ! कुशल से लौटी ?

श्रद्धा—आप की कृपा से।

शांति—माता ! प्रणाम।

श्रद्धा—पुत्री ! भर अङ्क मिल !

शांति—(वैसा करती है)

श्रद्धा—वत्से ! देवी विष्णुभक्ति के प्रसाद से मुनि-जनों के चित्त में स्थान प्राप्त कर।

विष्णुभक्ति—तो वहां का क्या सम्वाद है ?

श्रद्धा—जो आप देवी के प्रतिकूल चलने वालों के लिये उचित है।

विष्णुभक्ति—विस्तार पूर्वक वर्णन करो।

श्रद्धा—आप श्रवण करें। आदि केशव के देवालय से आप देवी के प्रस्थान करते ही, भगवान् भास्वान् के कुछ अपनी पाद-

लिमा परित्याग करने पर, विजय-घोषणा से आये हुए अनेकानेक वीरवरों के बहु-संख्यक सिंहनादों से दिगन्तों के बधिर होने पर, संतत स्यन्दन और तुरङ्गम के खुरों से खंडित महिमण्डल से समुत्थित रेणु-राशियों से उष्णरश्मि के आच्छन्न हो जाने पर, मद-मत्त मातंगों के कानों के प्रबल स्फालन से उठते हुए कुम्भ-सिन्दूर से दश दिशाओं के संध्या सदृश हो रहने पर, प्रलय काल के पयोदों के समान शब्दों से सुभीषण उनके और हमारे सेना-समुद्रों के उमड़ने पर, महाराज विवेक ने महाराज महामोह के पास नैयायिक दर्शन को सन्देश लेकर भेजा। उन्होंने जाकर महामोहसे कहा—

॥ भुजंग-प्रयात ॥

अभी त्याग के विष्णु के स्थान सारे।
नदी-तीर, कान्तार औ कुञ्ज न्यारे॥
सु-धर्मातमा-चित्त, पुण्य-स्थलों को।
बसें म्लेच्छ के बीच, लेके दलों को॥
नहीं तो हुआ खड्ग से छिन्न सारा।
अजी आप का अङ्ग प्रत्यङ्ग प्यारा॥
चखेंगे महा-शब्द-औ-रक्त-रूरे।
विदारे हुए वक्त्र से फेरु पूरे!॥५॥

विष्णुभक्ति—इसके बाद?

श्रद्धा—हे देवी! इसके बाद महामोह, जिसकी भृकुटि उस विकट ललाट-तट में ताण्डव कर रही थी, क्रुद्ध होकर बोला,

'वह प्रेत विवेक अपनी इस दुर्नीति का फल भोगे !" ऐसा कह कर पाखण्ड-तर्कशास्त्रों को उनके साथ कर के उसने सर्व प्रथम स्वयं पाखण्डागमों को समाघात में समुद्यत किया। इसके अनन्तर हमारे सैन्य के शीर्ष पर—

॥ सार ॥

वेद, वेद के अङ्ग, अखिल उपवेद, पुराण सुपावन।
धर्म्म शास्त्र, इतिहास आदि से शोभित परम सुहावन॥
चन्द्र समान कान्ति धारे औ पद्म धरे निज कर में।
सहसा प्रकट हुईं सरस्वती रण-वसुमती प्रवर में॥६॥

विष्णुभक्ति—फिर ?

श्रद्धा—देवि ! फिर वैष्णव, शैव, सौरादि देवी सरस्वती के समीप समुपस्थित हुए।

विष्णुभक्ति—तब ?

श्रद्धा—तब—

॥ कृपाण ॥

सांख्य-न्याय का कृपाण, वैशेषिक का वितान,
महाभाष्य औ महान, संयुत शास्त्र-प्रमाण।
शोभन अधिकरण, सहस्र किरण गण,
करती प्रकाश रण-प्राङ्गण प्रज्ञा प्रधान॥
धर्म्म-हिम-अंशुमान, सम मुख ज्योतिमान,
वेद तीन तीव्र ज्ञान-नेत्र तीन भ्राजमान।

अन्य चण्डिका समान, वाणी आगे बोध-यान,

तेज-ओज का निधान, थी मीमांसा भासमान ॥७॥

शान्ति—भला, स्वभाव से ही प्रतिद्वंद्वी आगमों और तर्कों का मेल कैसे हुआ ?

श्रद्धा—पुत्रि !

॥ पद्धरि ॥

है एक बंश में जन्म प्राप्त।
पर परस्पर बहु विरोध व्याप्त ॥
रिपु से पराभूत पुनः हाय।
ऐसों का संग सु-भाग्य लाय ॥८॥

इस कारण भीतर विरोध रहने पर भी वेद से व्युत्पन्न उन सकल शास्त्रों का वेद-संरक्षण और नास्तिक-पक्ष-प्रतिक्षेपण के निमित्त निस्सन्देह एक संगठन है। आगमों के तत्त्व को विचारने-वालों में अवश्य अविरोध है—

॥ गीतिका ॥

वह ज्योति शान्त, अनन्त, अद्वय, अज, त्रिगुण के भेद से।
विधि, विष्णु, शिव के नाम से अर्चित सदैव अखेद से।
हैं वेद का ही वाक्य ले यों भिन्न पंथ प्रवृत्त जो।
ज्यों नीरनिधि में नीरधारा प्राप्त हों त्यों ईश को ॥९॥

विष्णुभक्ति—तदनन्तर ?

श्रद्धा—देवि ! तदनन्तर परस्पर के हस्ती, हय और पदाति-

समूहों की बाण-वृष्टि से घनघोर घटा प्रदर्शित करनेवाले उनके और हमारे योद्धाओं का दारुण-प्रहार-युक्त युद्ध हुआ—

॥ रथोद्धता ॥

रक्त-तोय परिपूर्ण जो बड़ी।
मांस पंक पुनि कंक से भरी॥
बाण-विद्ध जिनमें विदीर्ण हो।
तुंग नाग-नग थे विशीर्ण सो॥
धार बीच जिनके विराजते।
शुभ्र छत्र शुभ हंसराज थे॥
देवि! यों सुनदियाँ बहीं वहाँ।
मैं कहूँ सविधि शक्ति है कहाँ? ॥१०॥

उसी परम घोर और महा भयङ्कर संप्रहार में सदागम और पाखण्डागम तर्कों के विरोध से पाखण्डागमों द्वारा अग्रसर किया हुआ चार्वाक तन्त्र अन्योन्य सैन्यों के विमर्दन से विनष्ट हो गया। अपर पाखण्डागम सदागम समुद्र के प्रवाह से दूर बह गये जिस कारण उनका मूल निर्मूलित हो गया। न्यायादि की अनुगामिनी मीमांसा के प्रगाढ़ प्रहार से जर्जरीभूत होकर निखिल नास्तिक तर्क अपने आगमों के ही पद को प्राप्त हुए।

विष्णु भक्ति—तत्पश्चात् ?

श्रद्धा—तत्पश्चात् वस्तु-विचार द्वारा काम मारा गया; क्षमा द्वारा क्रोध, कठोरता, हिंसा आदि हत हुए; सन्तोष द्वारा लोभ,

तृष्णा, दीनता, असत्य, पिशुनता, वाक्स्तेय, असत् ग्रहण इत्यादि उन्मूलित हुए; अनसूया द्वारा मात्सर्य जीता गया; परोत्कर्ष-भावना द्वारा मद मर्दित हुआ; और परगुणाधिक्य द्वारा मान का मूलोच्छेद हुआ !

विष्णु भक्ति (हर्ष के साथ) साधु ! साधु ! बड़ा सुन्दर हुआ ! अच्छा, महामोह का क्या समाचार है ?

श्रद्धा—हे देवी ! महामोह भी योग-विघ्नों के साथ कहीं गुप्त है जिससे उसका पता नहीं चलता।

विष्णु भक्ति—तब तो अनर्थ का महान् अंश शेष रह गया। उसका हनन होना चाहिये। क्योंकि—

॥ दोहा ॥

इच्छुक स्थिर-सम्पत्ति का, बुध भाजन-बहु-मान ।
अग्नि-शत्रु-ऋण-शेष का, शेष न रखे सयान ॥११॥

श्रद्धा—हे देवी ! पुत्र-पौत्रादि-मरण-जनित शोक से पीड़ित हो उसने भी प्राणपरित्याग का निश्चय कर लिया है।

विष्णु भक्ति (मुस्कुरा कर) यदि ऐसी बात है तो हम सबों का प्रयोजन सिद्ध हुआ। जीव परमानन्द को प्राप्त होगा। किन्तु वह दुरात्मा प्राण-परित्याग करने को कहाँ !

श्रद्धा—देवी उपनिषद् में प्रबोध-उदय के लिये श्रीमती का संकल्प कर लेने पर उसका शरीरावसान शीघ्र ही हो जायगा।

विष्णुभक्ति—अच्छा तो उसमें वैराग्य की उत्पत्ति के लिये व्यास-सरस्वती को भेजती हूँ।

(दोनों जाती हैं)

प्रवेशक।

(मन और संकल्प का प्रवेश)

मन—(रोदन करता हुआ) हा, पुत्र गण ! किधर गये ? मुझको अपना प्रिय दर्शन दो। हे राग, द्वेष, मात्सर्य आदि कुमार ! मेरे अङ्क में आ लिपटो। मेरे अखिल अङ्ग आकुल हो रहे हैं। हा ! कोई भी मुझ वृद्ध और अनाथ का आदर नहीं करता ! असूया आदि कन्यायें कहाँ गईं ? आशा, तृष्णा, अहिंसा प्रभृति पुत्र-वधुएँ किधर गईं ? दुष्ट विधाता ने उन सबों को भी, एक ही साथ, मुझ अभागे से क्यों छीन लिया ?

॥ राग—केदारा ॥

शोक-ज्वर विष-पावक सम जारे।
दारे सकल हृदय को, भारी पीड़ा व्यथा पसारे॥
सब प्रकार छेदे शरीर को, अखिल ज्ञान को फाड़े।
प्रकटे मोह, प्राण ले बल से, खल यह टरे न टारे॥१२॥

(मूर्च्छित हो गिरता है)

संकल्प—(रोकर) राजन् ! शान्त हों ! शान्त हों !

मन—(शान्त होकर) देवी प्रवृत्ति भी क्यों मुझ इस दीन दशा को प्राप्त प्राणी को सांत्वना नहीं देतीं ?

संकल्प—(रोकर) हे देव ! अब प्रवृत्ति कहाँ ! वह ते कुटुम्ब-वियोग-जन्य शोकाग्नि से संदग्ध-हृदय हो हृदय फाड़ कर मर गई ।

मन—हा, प्रिये ! कहाँ हो ? उत्तर दो—

॥ राग—विहाग ॥

देवि ! कहाँ तू हाय सिधारी ?
मेरे विना स्वप्न में भी तू सुख न लहे सुकुमारी ॥
तेरे विना नींद में मृत सम बनूं, गनूँ दुख भारी ।
अहह ! क्रूर दुर्दैव दुष्ट ने कैसी की यह ख्वारी ॥
किया हरण तुझको, शठ ने हर ली श्री-सम्पत सारी !
निकले प्राण न पै, निश्चय ये बने वज्र के प्यारी ! ॥१३॥

(फिर मूर्छित हो जाता है)

संकल्प—राजन् ! शान्त हों, शान्त हों ?

मन—(शांत होकर) अब जीवन व्यर्थ है । संकल्प ! चिता नाओ जिसमें अग्नि में प्रवेश कर इस शोकाग्नि को शान्त करूँ ।

(व्यास-सरस्वती का प्रवेश)

सरस्वती—भगवती विष्णुभक्ति द्वारा मैं यह कह कर भेजी ई हूँ कि "सखि, सरस्वती ! जाओ और जाकर सन्तति-वियोग विषण्ण मन को प्रबोध दो । जिसमें उसको वैराग्य हो ऐसा यत्न करो ।" तो उसके पास चलूँ । (पास जाकर) वत्स !

यों इस प्रकार परम सन्तप्त हो? क्या प्राणियों की अनित्यता म पहले से नहीं जानते थे? तुम तो ऐतिहासिक उपाख्यान भी ध्ययन कर चुके हो। पुनः

॥ जलहरण ॥

लोकेश, सुरेश, देव, दानव, मनु आदिक,
मुनिगण, मही और महोदधि कोटि शत।
कल्प कोटि आयु धर कर भी विनष्ट हुए,
कटु-कराल काल से बचे न रहे अक्षत॥
पयोनिधि-फेन सम पंच-तत्त्व-विरचित
अहो यह नर-देह जो हो पंच-तत्त्व-गत।
परम आश्चर्य! परिताप-प्रद महामोह
सुचित्त समुदित हो करे तो क्यों यों आहत?॥१४॥

अतः संसार की अनित्यता का विचार करो। नित्य तथा अनित्य वस्तुओं का अवलोकन करने वाला शोकावेग को नहीं अनुभव करता। क्योंकि—

॥ दोहा ॥

ब्रह्म एक नित सत्य सो, गहे अन्य विधि लोक।
बूझे एक उसे कहाँ मोह? कहाँ पुनि शोक?॥१५॥

मन—भगवती! शोकावेग से विदूषित मन में विवेक स्थान नहीं पाता।

सरस्वती—वत्स ! यह स्नेह का दोष है। यह बात प्रसिद्ध है कि स्नेह सब अनर्थ का मूल है—

॥ मनहरण ॥

नाम है सुप्रिय विष-बीज सम अतिशय
क्लेश के स्वरूप ये तो विषम महान हैं।
स्नेहमय सकल ये कुलिश-कृशानु-भरे
अति शीघ्र अङ्कुर बनें जो दाहमान हैं॥
जिनसे सु-दीप्त-शिखा सहस्र शिखर पूर्ण—
ज्वलित तुषाग्नि तुल्य जो व्यथा निधान हैं—
शत-शत शोक द्रुम उपजते देह को जो
मन्द मन्द नित दाह देते, लेते प्राण हैं ॥१६॥

मन—देवी ! यद्यपि बात ऐसी ही है तथापि मैं शोक-दहन से दग्ध होकर प्राण-धारण करने में असमर्थ हूँ। अच्छा हुआ कि अन्त समय में आपका दर्शन हो गया।

सरस्वती—यह आत्महत्या का उद्योग भारी पाप है। पुनः इन अपकार करने वालों का इतना आदर आप क्यों करते हैं ? देखिये—

॥ सुन्दरी ॥

उपकार कहीं कब ही कुछ भी इनने न किया न करें, न करेंगे।
परिवार सभी यह जो तव हैं सुख हेतु नहीं उर मोद भरेंगे॥
जब आय वियोग करें चित को तब छिन्न महा सुख शान्ति हरेंगे।
नर पामर तद्यपि पीड़ित हों उनके हित ले श्रम व्यर्थ मरेंगे ॥१७॥

फिर भी—

॥ दुर्मिल ॥

झु-भरी नदियाँ न तरीं कितनी, कितने गिरि-कोह न पार किये!।
अति क्रूर भयंकर जीव बसें उन कानन में निज वास दिये!॥
इनके हित कौन न पाप किये पुनि कौन न सङ्कट शीस लिये!।
सब से बढ़ के, धन वैभव मत्त कु-स्वामि सु-सेवन में सड़िये!॥१८॥

मन—देवी! बात तो ऐसी ही है। तथापि—

॥ दोहा ॥

देह-जात, लालित महा, चिर विचरें उर बीच।
ऐसों का विच्छेद है, मर्म-छेद-मय मीच॥१९॥

सरस्वती—वत्स! यह मोह ममता से ही उत्पन्न होता है। कहा भी है—

॥ दोहा ॥

बिल्ली गृह-कुक्कुट भखे, ज्यों उपजे संताप।
त्यों न चटक, मूषिक भखे, ममता ही दे ताप॥२०॥

इस कारण अखिल अनर्थ का बीज स्वरूप ममत्व के मूलोच्छेदन का प्रयत्न करना चाहिये। देखिये—

॥ तोटक ॥

तन में जनमें बहु कीट अहो!
उनको न तजे जन कौन कहो?
धर सन्तति नाम शरीर दहे।
बस मोह यही, सुख मान गहे!॥२१॥

मन—देवी ! बात ठीक है। तौभी माया-ग्रंथि का कठिन है। (सोच कर और साँस भर कर) श्रीमती ने सर्व प्रकार परित्राण किया। (चरणों पर गिरता है)

सरस्वती—वत्स ! तुम्हारा हृदय उपदेश सहने के योग गया। अतएव एक और बात कहती हूँ—

॥ राधिका ॥

जब मरैं पिता औ पुत्र, बन्धु औ नारी।
जड़मति उर पीरैं शोक-दग्ध हो भारी॥
पर यह वियोग बुध-हृदय शान्ति-सुख लावे।
कटु, सार-विगत जग बीच विराग दृढ़ावे॥२२॥

(वैराग्य का प्रवेश)

वैराग्य—(सोचकर)—

॥ रूप घनाक्षरी ॥

नव नील नीरज सुदल के उपान्त सम
यह अतिशय मृदु-मँजुल-कोमल देह।
आमिष को भली भांति ढक के त्वचा से बस,
सिरजा प्रजापति ने जो न यह मल-गेह॥
नूतन शोणित से मिलित मांस-कवल को
ललक-ललक अभिलषते बढ़ा के नेह
गीध, काक औ श्रृगाल के मनुज-तन पर
टूटते तो क्यों न कोई रोकते सहित स्नेह ?॥२३॥

पुनः—

॥ द्रुत विलम्बित ॥

विभव दीप-शिखा सम लोल है।
विषय-अन्त विषाद अलोल है॥
विपद-सद्म सदा यह देह है।
विपुल सम्पद मृत्यु-सुगेह है॥
स्वजन शोक-स्वरूप महान है।
सतत नारि अनर्थ-निधान है॥
तदपि लोक कुमार्ग-सुलीन है।
क्षण न ब्रह्म-विचार विलीन है! ॥२४॥

सरस्वती—वत्स! यह वैराग्य तुम्हारे सम्मुख उपस्थित है। इसका आदर करो।

मन—पुत्र! कहाँ हो?

वैराग्य—(पास पहुँच कर) मैं प्रणाम करता हूँ।

मन—वत्स! उत्पन्न होते ही तुमने मुझको त्याग दिया! भर अङ्क मिलो।

वैराग्य—(वैसा करता है)

मन—वत्स! तुम्हारे दर्शन से मेरे शोक का वेग शान्त है।

वैराग्य—तात! यह कौन सा शोक सता रहा है? क्योंकि—

॥ सुख ॥

पथ में प्रिय पांथ, नदी-नद-मध्य
महीरुह-राशि समान अनूपम ।
नभ में घन-पुंज, पयोनिधि में वर
पोत चढ़े वणिकादिक के सम ॥
जननी जनकादि, सुभ्रात, स्वजात,
प्रिया दयिता शुभ योग अनुत्तम ।
यदि घोर वियोग निरन्तर सिद्ध,
कहां बुध के उर शोक महा तम ? ॥२५॥

मन—(आनन्द से) इस वत्स ने जो कहा सो सच है। आप सावधान होकर हृदय में धारण करें।

॥ स्त्रग्विणी ॥

नित्य अभ्यास से शक्ति-सम्पन्न जो ।
स्नेह के सूत्र से बद्ध सम्पूर्ण जो ॥
मोह के पाश से पूर्ण दे मुक्ति को ।
देवि ! तू दे बता वेगही युक्ति सो ॥२६॥

सरस्वती—वत्स ! वस्तुओं की अनित्यता का मनन-चिन्तन ही ममता के मूलोच्छेदन का प्रथम उपाय है—

॥ शिखरिणी ॥

पिता, माता, दारा, प्रिय तनय, पितृव्य तव ये।
करोड़ों की संख्या इस जगत में हा ! गत हुए ॥
अतः तू यों विद्युत् चपल पल संगी समझ के।
उन्हें जो वारम्वार मनन करे तो सुख छके ! ॥२७॥

मन—हे भगवती ! आप की अनुकम्पा से मोह का तो नाश हुआ किन्तु—

॥ रोला ॥

भगवति ! तव मृदु मुख-मृगाङ्क से निःसृत न्यारा।
उपदेशामृत क्षालित अन्तः करण हमारा॥
तदपि शोक-तरङ्ग मलिन उसको करती है।
नैसर्गिक निर्मलता को बरबस हरती है॥२८॥

अतएव हे भगवति ! आप इस नवीन शोक-प्रहार की औषधि बतलावें।

सरस्वती—वत्स ! अवश्य ऐसी अवस्थाओं के लिये भी मुनियों ने उपदेश दे रखा है—

॥ राधिका ॥

हो अकस्मात उत्पन्न, नवीन, निराला।
अत्यन्त गाढ़ औ हृदय छेदने-वाला॥
सर्वदा अचिन्ता-ग्रास शोक हित भारी॥
है एक अचिन्ता मात्र महौषधि न्यारी॥२९॥

मन—इस प्रकार आप भगवती से भी यह चित्त रोके नहीं रुकता। क्योंकि—

॥ शोकहर ॥

मुहुर्मुहुः तव मृदु वर बातों से निरुद्ध होने पर भी।
चिन्ताओं से होता है आक्रान्त परम मम चित्त सभी॥
ज्यों वातों से बार बार आहत हो के घन-घोर घटा।
चन्द्र बिम्ब को करती है आच्छन्न व हरती शुभ्र छटा॥३०॥

सरस्वती—वत्स ! सुनो। चित्त का विकार ऐसा ही होत है। इस कारण किसी शान्त विषय में चित्त को स्थापित करो

मन—हे भगवती ! तो कृपा करें। वह कौन सा शान्त विषय है ?

सरस्वती—हे वत्स ! यह गुप्त है। तथापि आर्तों को उपदेश देने में दोष नहीं है—

॥ हरिगीतिका ॥

वर हार प्रिय केयूर कुण्डल मुकुट को धारण किये।
घनश्याम हरि का स्मरण मन तू नित करे मन को दिये॥
वा ग्रीष्म में शीतल सरोवर सदृश, शोक-विगत महा।
उस ब्रह्म में बस लीन हो तो परम सुख पावे अहा ! ॥३१॥

मन—बात तो ऐसी ही है। बस इसी समय में—

॥ सार ॥

नव-यौवना अंगना, अलि-झंकार-युक्त द्रुम सारे।
विकसित नव-मल्लिका, सुरभि-संयुत मंदानिल न्यारे॥
वर विवेक से मिटने पर तम-तोम, विमल अति होके।
मन अब उन्हें मृषा, मृगतृष्णार्णव-पय-मय अवलोके !॥३२॥

सरस्वती—वत्स ! यद्यपि यह ऐसा है तथापि गृहस्थ को निमिष-मात्र भी अपने आश्रम-धर्म्म से रहित होकर नहीं रहना चाहिये। अतः अब से निवृत्ति ही तुम्हारी धर्म्मपत्नी रहेगी।

मन (लज्जा से)—देवी की जो आज्ञा।

सरस्वती—शम, दम, सन्तोष प्रभृति पुत्र तथा यम, नियम आदि अमात्य तुम्हारा अनुसरण करें! विवेक भी, तुम्हारे अनुग्रह से, उपनिषद् देवी के साथ युवराज पद प्राप्त करे! मैत्री, प्रीति, करुणा और मति ये चारों बहन भगवती विष्णुभक्ति द्वारा तुम्हारी प्रसन्नता के लिये प्रेषित हुई हैं। उनका तुम प्रसन्नता-पूर्वक सम्मान करो।

मन—देवी की जो आज्ञा। श्रीमती के अखिल आदेश शीश पर धारण किये। (हर्ष से चरणों पर गिरता है)

सरस्वती—आयुष्मन्! साम्राज्य का शासन करें और इन यम, नियम आदिकों को आदर की दृष्टि से देखें। इन्हीं के साथ आप युवराज पद पर समारूढ़ हों। आप के स्वास्थ्य-सम्पन्न होने पर जीवात्मा भी अपनी प्रकृति को प्राप्त होगी। क्योंकि—

॥ विजया ॥

आप के समागम से सत्य-ज्ञान-रूप भी जो,
स्नेह-घन से आच्छन्न सुदेव को हा! देखिये।
बुद्धि-वृत्ति-भेद से ही एक सो अनेक भासे,
सिन्धु-वीचि रवि के ज्यों बहु स्वरूप पेखिये॥
फैली भाव-भावनायें खींच के सकल भांति,
ग्रहण करे परम प्रशांति अपने हिये।
तभी, व्योम विमल में विभाकर लखिये ज्यों,
त्यों आनन्द-कन्द सत चित आत्मा निरेखिये॥॥२३॥

अच्छा, तो अब कामादि कुटुम्बों को जल देने के लिये नदी के पास चलें।

मन—देवी की जो आज्ञा। (सब जाते हैं)

छठा अङ्क ।

(शान्ति का प्रवेश)

शान्ति—महाराज विवेक का आदेश है कि "हे वत्से ! तुम तो जानती ही हो कि—

॥ स्रग्धरा ॥

जाने पै नन्दनों के, पुनि लय ममता-मोह के पूर्ण पाये।
होके वैराग्य-प्रेमी, मन प्रशम जभी प्रेम से शुभ्र लाये॥
पाँचों क्लेशादिकों की सब जब विनशे वासना बद्धकारी।
विस्तारे तत्त्व का सो सु-पुरुष तब ही ज्ञान सर्वत्र भारी॥१॥

इस कारण देवी उपनिषद् को अति शीघ्र सप्रेम मना कर मेरे समीप ले आओ।"

शान्ति (देख कर)—मेरी माता हर्ष सहित मन में कुछ विचार करती इसी ओर आ रही है।

(श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—अहा ! इस बेला राजकुल के आरोग्य-युक्त अवलोकन कर मेरे लोचन चिरकाल के पश्चात् पियूष-पूर्णवत् हो रहे हैं !

॥ दोहा ॥

मोहादिक निग्रह जहाँ, पूज्य यमादिक संत।
ईश्वर-अनुजीवी, वशी, पूजें नित्य अनंत॥२॥

शान्ति (पास जाकर) माँ! यहाँ पहुंचने के पहले क्या विचार रही थी?

श्रद्धा—(अहा! इस वेला इत्यादि कहती है)

शान्ति—स्वामी पुरुष की मन के प्रति कैसी प्रवृत्ति है?

श्रद्धा—जैसी पकड़े गये, वध के योग्य प्राणी के प्रति होती है।

शान्ति—तो क्या स्वामी स्वयं साम्राज्य स्वीकार करेंगे?

श्रद्धा—बात तो यही है। क्योंकि जब आत्मा का साक्षात्कार हो गया तब वह देव स्वयं ही स्वाराट् और सम्राट् हैं।

शान्ति—अच्छा, उन देव का माया पर कैसा अनुग्रह है?

श्रद्धा—निग्रह के स्थान अनुग्रह कहने में कैसे समर्थ होती हो? सब अनर्थों का बीज यह माया सर्वथा निग्रह की योग्य है, यह बात अवश्य वह देव भी मानते हैं।

शान्ति—यदि ऐसी बात है तो इस समय राजकुल की क्या स्थिति है?

श्रद्धा—सुनो—

॥ छप्पै ॥

नित्यानित्य-विवेचना वही वामा प्यारी।
सुहृद एक वैराग्य सुमति दे जो सुखकारी॥
हैं मंत्री यम आदि, करें शम प्रभृति सुरक्षा।
चेरी मैत्री प्रमुख; सहचरी मंजु मुमुक्षा॥
शत्रु मोह ममता तथा, शठ संकल्प कुसंग सब।
ध्वंसनीय बल से सदा, बिलसे ब्रह्म-तरंग अब॥३॥

शान्ति—अच्छा, स्वामी का धर्म्म में कैसा प्रेम है?

श्रद्धा—पुत्री! जब से वैराग्य से सम्बन्ध हुआ तब से स्वामी लोक-परलोक विषयक फल के भोगों से बिलकुल विरस हैं जिस कारण—

॥ गीता ॥

पाप-फल से निरय सम भय, नित मानते हैं नाथ।
नाशमय प्रिय पुण्य-फल की, भी भीति संतत साथ॥
इस भांति फल-संबंध से, संत्यक्त सुकृत कर्म्म।
स्वीकार करते किसी विधि, बस द्वार के सब धर्म्म॥४॥

बल्कि स्वामी की आत्मा में एक-मात्र निष्ठा देख अपना कर्त्तव्य पालित हुआ जानकर धर्म्म स्वयं ही शून्य-व्यापार सा हो गया!

शान्ति—अच्छा, जिन मोहक धर्म्मों को साथ लेकर महामोह गुप्त हो गया था उनका क्या समाचार है?

श्रद्धा—पुत्री! उस दुर्दशा को प्राप्त होने पर भी उस नीच महामोह ने स्वामी के वंचनार्थ, मधुमती विद्या के साथ, उन मोहक धर्म्मों को भेजा। अभिप्राय यह था कि यदि उनमें आसक्त हो गये तो स्वामी विवेक उपनिषद् की चिन्ता नहीं करेंगे।

शान्ति—तत्पश्चात्?

श्रद्धा—तत्पश्चात् उन्होंने स्वामी के समीप जाकर ऐन्द्रजालिक विद्या प्रदर्शित की—

॥ मदिरा ॥

हो यह मुग्ध सुने शत योजन के सब शब्द स्वतः समुदा।
आविरभूत स्वतः श्रुति, भारत भव्य, पुराण, सु-तर्क सदा॥
शुभ्र मनोहर शास्त्र स्वयं रचती कविता मन मोद-प्रदा।
चौदह लोक भ्रमे, निरखे नित रत्न-धरा अति आनँद-दा॥५॥

मधुमती द्वारा वसुंधरा का निर्म्माण होने पर उक्त स्थान के अभिमानि देवता इस प्रकार प्रलोभन देने लगे—इस मेरुस्थल पर जन्म और मरण का नाम नहीं। यहां कोई उपाधि नहीं। यह सहज सुन्दर देश है। विविध विलास एवं लावण्य रूप पुण्य से समन्वित, मंगलार्थ व्यग्र-पाणि, और प्रणय में प्रवीण विद्याधरी-गण तुम्हारे लिये उपस्थित हैं। इसलिये आओ, और

॥ चामर ॥

स्वर्ण-वालुका-मयी तरङ्गिणी सुहावनी।
पीवरोरु, पद्म-आनना, सु-भव्य भामिनी॥
रत्न-तुल्य-कोमला वनावली विनोद-दा।
पुण्य-प्राप्त सर्व भोग भोग लो यहाँ सदा॥६॥

शान्ति—तदनन्तर ?

श्रद्धा—पुत्री! इस बात को श्रवण कर "यह तो प्रशंसा के य है" ऐसा माया ने कहा। मन ने इसका अनुमोदन किया। ऊलप ने प्रोत्साहन दिया। इस समय स्वामी मानो सन्मित्र के भाये सन्मार्ग को सम्प्राप्त हुए!

शान्ति—(खेद के साथ) हा ! धिकार है ! धिकार है ! स्वामी फिर भी उसी संसार-जाल में फँसे !

श्रद्धा—नहीं, नहीं ।

शान्ति—तब ?

श्रद्धा—तब निकट-वर्त्ती तर्क ने उन सबों को, क्रोध के आवेश में आ, लाल-लाल आँखों से देखकर, कहा, "स्वामिन् ! इस भांति विषय रूप मांस-ग्रास के अभिलाषी धूर्तों द्वारा फिर भी उसी प्रकार उन्हीं विषम विषयाङ्गारों में गिराये गये अपने को क्यों नहीं जानते ?

॥ मंजु भाषिणी ॥

भव-सिन्धु-तारण निमित्त वेग ही ।
प्रिय जो सु-योग-तरणी अहो ! गही ॥
उसको विहाय, अब क्यों विमोह से ।
करते कृशानु-सरि स्नान छोह से ? ॥७॥

शान्ति—फिर ?

श्रद्धा—फिर उसका वचन सुन "विषयों को नमस्कार" ऐसा कह कर उन्होंने मधुमती का तिरस्कार किया ।

शान्ति—साधु ! साधु ! अच्छा तो आप किधर चली हैं ?

श्रद्धा—स्वामी का आदेश है कि "मैं विवेक को अवलोकन करना चाहता हूँ ।"

शान्ति—तब आप जल्द जायँ ।

श्रद्धा—तो मैं राजा के समीप चलूँ।

शान्ति—महाराज ने मुझे भी उपनिषद् को लाने का आदेश दिया है। सो मैं उस आज्ञा का सम्पादन करूँ।

(दोनों जाती हैं)

प्रवेशक।

(पुरुष का प्रवेश)

पुरुष (सोचकर हर्ष के साथ)—धन्य है देवी विष्णुभक्ति की महिमा, जिसकी कृपा से मैंने—

॥ विष्णुपद ॥

क्लेश-तरङ्ग तरीं, भयङ्कर ममता-भँवर तरे।
मित्र-कलत्र-बन्धु ग्रह-ग्राहों के कटु ग्रास टरे॥
लँघा क्रोध-बड़वानल, तृष्णा-लता-समूह बहा।
पार उतरने पर हूँ अब संसार-समुद्र महा! ॥८॥

(उपनिषद् और शान्ति का प्रवेश)

उपनिषद्—सखि! निष्ठुर स्वामी का मुख कैसे देखूंगी? क्योंकि अपर की कान्ता की तरह मैं चिरकाल पर्य्यन्त अकेली छोड़ दी गई।

शान्ति—देवि! उस प्रकार की विपद् में पड़े हुए महाराज का उपालम्भ क्यों करती हो?

उपनिषद्—सखि! तूने मेरी वह दशा नहीं देखी। इसी से ऐसा कहती है। सुन—

॥ स्रग्धरा ॥

हस्तों के भूषणों की दलित-मणि-मयी श्रेणियाँ भग्न सारी।
चूड़ा-माणिक्य की सो ग्रहण-निकृति से केश था भ्रष्ट भारी॥
पापी, दुर्बुद्धियों से, हत विधि बल से, मैं न कैसे, कहाँ, याँ।
दासी की जा रही थी, सपदि स्वपति के दूर के वास से हा! ॥६॥

शान्ति—यह सब महामोह की कुत्सित् करतूत है। इसमें महाराज का कोई दोष नहीं। उस मोह ने मीनकेतन प्रभृति द्वारा मन को प्रबोधन दे तुझ से विवेक को दूर कर दिया। किन्तु कुलीन ललनाओं का यह स्वाभाविक शील है कि वे विपद् में निमग्न अपने ईश के अभ्युदय-काल की प्रतीक्षा करें। इस लिये आ और दर्शन तथा प्रिय आलाप से महाराज का सम्मान कर। सम्प्रति समस्त शत्रु मारे गये। तेरे मनोरथ सम्यक् सिद्ध हुए।

उपनिषद्—सखि! इस समय, जब मैं आ रही थी तब, दुहिता गीता ने मुझ से एकान्त में कहा कि भरण-पोषण करने-वाले अपने प्रभु पुरुष का यथा-प्रश्न उत्तर देकर समादर करना। इस प्रकार प्रबोध की उत्पत्ति होगी। तो बड़ों के आगे धृष्टता क्यों करूँ?

शान्ति—सखि! तू गीता का यह वाक्य न विचार। भगवती विष्णुभक्ति ने यही अभिप्राय स्वामी विवेक पर प्रकट कर दिया है। अतः आ और दर्शन द्वारा अपने प्राणपति आदि पुरुष का सम्मान कर।

उपनिषद्—प्रिय सखी की जो इच्छा। (घूम कर जाती है)

(राजा और श्रद्धा का प्रवेश)

राजा—वत्से ! भला शांति प्राण-वल्लभा उपनिषद् से भेंट करेगी ?

श्रद्धा—देव ! वह तो आदेश लेकर गई है। फिर, भेंट क्यों न करेगी ?

राजा—कैसे ?

श्रद्धा—हे देव ! देवी विष्णुभक्ति ने यह प्रथम ही कह दिया था कि मन्दर नामक शैल पर, विष्णु के मन्दिर में, तर्क विद्या के भय से, उपनिषद् ने देवी गीता में प्रवेश किया !

राजा—फिर तर्क-विद्या का क्या भय है ?

श्रद्धा—हे देव ! इस विषय का वर्णन वही करेगी। सो अब आप चलें। स्वामी आप के आगमन का ही ध्यान करते हुए, एकान्त में, यह देखिये, बैठे हैं।

राजा—(समीप जाकर) स्वामिन् ! मैं प्रणाम करता हूँ।

पुरुष—यह शिष्टाचार-पद्धति के प्रतिकूल है। क्योंकि ज्ञान-वृद्ध होने से उपदेश-दान के कारण आप ही हमारे पिता-समान हैं। क्योंकि—

॥ शोकहर ॥

पूर्व काल में देवों के जब धर्म्म-मार्ग का ज्ञान नशा।
पूछा तत्व उन्होंने अपने तनुजों से व्रीड़ा विनशा॥
ज्ञान-प्रदान निमित्त तब उन्हें वे अति शीघ्र ग्रहण कर के।
बोले थे, "हे पुत्र-गणो ! तुम सम्यक सुनो ध्यान धर के" ॥१०॥

अतः आप अपने को पिता मान कर हमारे साथ व्यव करें। यही धर्म्म है।

शान्ति—हे देवि! यह विवेक के साथ, एकान्त में, स्व पुरुष बैठे हैं। अतएव देवी उनके समीप चलें।

उपनिषद् (समीप जाती है)

शान्ति—स्वामिन्! यह उपनिषद् देवी पादाभिवन्दन निमित्त आई हैं।

पुरुष—नहीं, नहीं। क्योंकि तत्त्व-बोधोदय के कारण हमारी माता हैं। इस लिये यही हमारे नमस्कार-योग्य हैं। अथ

॥ दोहा ॥

अम्बा औ देवी द्वया, में अति अन्तर भास।
अम्बा दृढ़ कर बाँधती, देवी बन्धन नाश ॥११॥

उपनिषद् (विवेक को देख, नमस्कार कर बैठती है)

पुरुष—मातः! कहें, ये सब दिन आपने कहाँ बिताये?

उपनिषद्—स्वामिन्!

॥ शंकर ॥

ये सब दिन काटे मैंने मठ, शून्य मन्दिर बीच।
रह के मूर्ख और मुखरों के संग में अति नीच॥

पुरुष—तो क्या वे आप के तत्त्व को कुछ जानते हैं?

उपनिषद्—नहीं। किन्तु—

द्रविड़ाङ्गना-कथित वाणी के तुल्य वे हत-ज्ञान।
मम सदुक्तियों को न समझ, लें कटु कल्पना ठान ॥१२॥

जिस कारण मेरा मनन। चिन्तन उनके लिये केवल पर-धन-ग्रहण के प्रयोजन से ही है।

पुरुष—तदनन्तर ?

उपनिषद्—तदनन्तर, एकबार—

॥ रोला ॥

कृष्ण अजिन, शुचि अग्नि, समिध, घृत, जुहू सुहावन ।
स्रुव स्रुवादि प्रिय पात्र, इष्टि, पशु, सोम सुपावन ॥
इनसे परिवृत, कर्मकाण्ड पद्धति से पूरी ।
पथ में मैंने लखी यज्ञ-विद्या वह रूरी ॥१३॥

पुरुष—तब ?

उपनिषद्—मैंने विचारा कि यह यज्ञ-विद्या जो इतनी पुस्तकों का भार वहन कर रही है मेरा तत्त्व अवश्य जानती होगी। इस लिये, इसके समीप कुछ दिन रहूं।

पुरुष—इसके बाद ?

उपनिषद्—इसके बाद मैं उसके समीप गई। वह बोल उठी, "भद्रे! क्या चाहती हो?" तब मैंने कहा, "आर्य्ये! मैं अनाथ हूँ। तुम में निवास करना चाहती हूँ।"

पुरुष—फिर ?

उपनिषद्—फिर मैंने कहा—

॥ सुन्दरी ॥

जिससे यह विश्व विसृष्ट, जहाँ रमता, जिसमें लय को पुनि पावे।
जिसकी द्युति से जग में द्युति, जो सहजानँद उज्ज्वल तेज सुहावे।
शुचि, शांत, विकार-विहीन, सु-निष्क्रिय, मोक्ष निमित्त जिसे बुध ध्यावें।
तम द्वैत दुरा, उस नित्य निरीह महेश्वर के गुण को हम गावें ॥१४॥

तब उसने कहा—

॥ शान्त ॥

अकर्त्ता आतमा कैसे बने ईश ?
क्रिया भव को विनाश—न ज्ञान जगदीश ॥
क्रिया से ही मनुज काटे जगत जाल।
सुखी औ शान्त हो जीवे बहुत काल ॥१५॥

अतएव आप को अङ्गीकार करने में मुझे कोई भारी प्रयोजन नहीं। तथापि यदि कर्त्ता और भोक्ता पुरुष की स्तुति करती हुई कुछ काल आप यहाँ रहना चाहती हैं तो इसमें क्या दोष है ?

राजा (उपहास से)—धन्य है धूमान्धकार से मलिन दृष्टि-वाली यज्ञविद्या की दुर्बुद्धि, जिस कारण वह इस प्रकार कुतर्क से विमोहित हुई !

॥ राम ॥

अय अचल-अचेत, जान नहीं को ?
चुम्बक के निकट, चले सही सो ॥
प्रभु-दृष्टि प्रेरित, त्यों यह माया।
सिरजे जग यही, प्रभुत्व छाया ॥१६॥

इस लिये यह अनीश्वर-दृष्टि अज्ञानान्ध जनों की है। अज्ञान उत्पन्न संसार के कर्मों द्वारा शमन करती हुई यज्ञ विद्या अवश्यमेव घोर अन्धकार को और भी अन्धकार में ले जाना चाहती है—

॥ स्पेन्सर छन्द ॥

विनाश-शील सर्व सर्वथा।
महान्धकार-मुक्त मोक को॥
करे प्रकाश, भास दे तथा।
य सत लोक, मृत्यु-ओक को॥
उसी प्रकाशमान लोक को।
उसी अनाशमान को मुदा॥
निधान-ज्ञान औ अशोक को।
सुप्राप्त ज्ञानमान हो सदा।
अहो! न अन्य मार्ग मुक्ति का कदा॥१७॥

पुरुष—इसके बाद?

उपनिषद्—इसके बाद यज्ञविद्या कुछ विचार कर बोली—“सखी! आप के समीप रहने से मेरे शिष्य दुर्बुद्धि-ग्रस्त होकर अपने कर्म में कम आदर करने लगेंगे। इसलिये अनुग्रह कर आप अपने अभिलषित स्थान को सिधारें।

पुरुष—तब?

उपनिषद्—तब मैंने उसे परित्याग कर प्रस्थान किया।

पुरुष—तब?

उपनिषद्—तब कर्मकाण्ड की सहचरी मीमांसा से भेंट हुई—

॥ सार ॥

फल-अनुकूल कर्म्म में कर के भेद-भिन्नता भारी।
श्रुति इत्यादि प्रमाणों से संयुक्त, निपुण हो न्यारी॥
अति विचित्र अङ्गों, उपदेशों, अतिदेशकों भरी हो।
कर्म्मों का स्थापन करती सम्यक मग मध्य खड़ी हो॥१८॥

पुरुष—तदनन्तर ?

उपनिषद्—तदनन्तर उससे भी मैंने उसी प्रकार आश्रय-प्रदान के लिये प्रार्थना की। तब वह भी बोली, "भद्रे ! क्या चाहती हो ?" तब मैंने वही कहा, "आर्य्ये ! मैं अनाथ हूँ। तुममें निवास करना चाहती हूँ।" साथ ही, यह भी पढ़ा—जिससे यह विश्व विसृष्ट इत्यादि।

पुरुष—तदनन्तर ?

उपनिषद्—तदनन्तर मीमांसा ने अपनी पार्श्ववर्त्तिनी का मुख देख कर कहा, "पुरुष लोकान्तर फल-भोग के योग्य है—यह प्रतिपादन करना इनका प्रयोजन है। अतएव इनको कर्म्म में नियुक्त करो।" वहाँ उन शिष्यों के मध्य एक ने इसका अनुमोदन भी किया। किन्तु एक अपर शिष्य, कुमारिल स्वामी ने—जिसकी प्रतिष्ठा प्रसिद्ध है और जो मीमांसा के अधिष्ठातृ देवता हैं—यों कहा, "देवी ! पुरुष कर्म्म-फल-भोक्ता है—इस बात का नहीं किन्तु अकर्त्ता, अभोक्ता ईश्वर का यह प्रतिपादन करती है। यह कहती है कि उस ईश्वर का कर्म्म से कोई प्रयोजन

हीं।" तब एक दूसरे ने कहा, "तो क्या लौकिक पुरुष से भिन्न कोई अन्य ईश्वर है?" इस पर उन्होंने मुस्कुरा कर कहा, 'हाँ, है—

॥ अनंग-शेखर ॥

सदैव एक विश्व के समस्त कर्म को निहार,
अन्य मोह-अन्धकार से विनष्ट-ज्ञान है।
सुकर्म्म के सुस्वाद एक चाहता स्वचित्त बीच,
अन्य कर्म्म के फल-प्रदान में प्रधान है॥
बने नियुक्त नित्य एक कर्म्म मध्य मोद-युक्त,
देव अन्य प्राणि-पुंज शासता सुजान है।
नितान्त ही निसंग यों त्रिलोक-नाथ पुण्य-गाथ,
सिद्ध क्यों य बात—कर्म्मवान सो पुमान है?॥१९॥

राजा—(हर्षित हो) धन्य हैं कुमारिल स्वामी! आप की प्रज्ञा परमोत्कृष्ट है!

॥ वासन्ती ॥

हैं दो पक्षी साथ सतत मैत्री को धारे।
बैठे वृक्षस्थान सुभग, भावों में न्यारे॥
दोनों में से एक सु-फल मीठा है खाता।
होता साक्षी अन्य, न कुछ खाने से नाता॥२०॥

पुरुष—फिर क्या हुआ?

उपनिषद्—फिर मैंने मीमांसा से परामर्श ले प्रस्थान किया।

पुरुष—इसके बाद ?

उपनिषद्—इसके बाद बहुत शिष्यों से सेव्यमान तर्क विद्या का मैंने अवलोकन किया—

॥ त्रिभंगी ॥

कोई कहती निर्लेप आतमा व्याप न उसे विषाद-मुदा।
छल-जाति-सुनिग्रह-पूर्ण अन्य बहु वाद वितण्डा तान सदा॥
कर पृथक प्रकृति को और पुरुष का कर प्रभेद, दृष्टान्त बता।
महदहँकारादिक-सृष्टि-क्रमों से तत्त्व-गणन में अन्य रता॥२१॥

पुरुष—तब ?

उपनिषद्—उसी भाँति मैं उन लोगों के समीप उपस्थित हुई। उन लोगों से पूछे जाने पर मैंने अपना वही कार्य्य बतलाया—जिससे यह विश्व विसृष्ट इत्यादि। तब उन लोगों ने स्पष्ट उपहास के साथ कहा—"आह, वाचाल! विश्व की उत्पत्ति परमाणुओं से हुई है। ईश्वर इसका निमित्त-कारण है।" दूसरी क्रोध में आकर बोली, "हा, पापिनी! क्यों ईश्वर को ही विकारी बना उस पर नश्वरता का निरूपण करती है? भला क्या प्रकृति से विश्व की उत्पत्ति नहीं हुई है?

राजा—हा! ये दुष्ट-बुद्धि तर्क-विद्याएँ इतना भी नहीं जानतीं! यह सकल प्रमेय पदार्थ घट प्रभृति के समान निर्मित हैं। परमाणु तथा प्रकृति के निमित्त-कारण का निरूपण भी उपेक्षणीय है। क्योंकि—

॥ मत्त गयन्द ॥

अम्बु सुधाकर, अम्बर में पुर, स्वप्न यथेन्द्र जाल सुहावे।
सृष्टि-लयादिक-युक्त-जगत्त्य मेय, असत्य तथा नित भावे॥
शुक्ति सुरूप्य व हार भुजंगम का भ्रम ज्यों नर के उर आवे।
बोध बिना उपजे यह त्यों, पुनि ब्रह्म-प्रबोध लहे लय पावे॥२२॥

यहाँ विकार की शङ्का बालिकाओं के वाग्विलास की भाँति है। क्योंकि—

॥ चकोर ॥

शान्त, चिदानँद, ज्योति-प्रकाशक,
निष्कल, निर्मल, नित्य, अपार।
यों गुण-पूर्ण जगत्पति में
जग की रचना न विकार पसार॥
श्याम सरोरुह के दल की
सुषमा-मय अम्बुद-शैल उदार।
प्रादुरभूत हुए नभ में
परिव्याप कहाँ, कब, कौन विकार ? ॥२३॥

पुरुष—वाह ! वाह ! प्रज्ञावान् का यह विचार मेरे चित्त को प्रसन्न करता है। (उपनिषद् की ओर) फिर क्या हुआ ?

उपनिषद्—फिर, वे सब की सब क्रुद्ध होकर बोलीं—अहो ! प्रपञ्च का विनाश कर मुक्ति का प्रतिपादन करती हुई नास्तिक पथ पर चलने-वाली इस स्त्री को बाँधो। इस पर सभी मुझको बाँधने के लिये सकोप दौड़ीं।

पुरुष—(भय से) तब ?

उपनिषद्—तब मैं अत्यन्त वेग से निकल भागी और दण्डकारण्य में जा घुसी। तदनन्तर मन्दर-शैल के समीप निर्माण किये गये मधुसूदन-मन्दिर के निकट ही—

॥ स्रग्धरा ॥

हस्तों के भूषणों की दलित-मणि-मयी श्रेणियां भग्न सारी।
चूड़ा-माणिक्य की सो ग्रहण-निकृति से केश था भ्रष्ट भारी॥

इत्यादि मेरी अवस्था हुई।

पुरुष—तब ?

उपनिषद्—तब, देव-मन्दिर से निकल कर गदा-धारी पुरुषों द्वारा अतिशय निष्ठुरता से ताड़ित होने पर वे सभी स्थानान्तर को प्रस्थान कर गईं।

राजा—(हर्षित हो) अवश्य आप पर आक्रमण भगवान् विश्व-साक्षी सहन नहीं कर सकते।

पुरुष—तदनन्तर ?

उपनिषद्—

टूटी मुक्तावली हा ! हत अहह ! सभी स्रस्त-वस्त्रादि, दीना।
भीता गीता सु-भव्याश्रम झट प्रविशी नूपुरों से विहीना ! ॥२४॥

वहां बच्ची गीता ने मुझको आई हुई देख कर तुरन्त माँ ! माँ ! कर मेरे अङ्क में लिपट गई और मुझको बैठाया। समाचार ज्ञात होने पर वह बोली—"माँ ! इसके लिये मन में दुखी न हो।

निस्सन्देह जो असुर-स्वभाव वाले तुम्हारा प्रमाण न मान कर मन-माना मार्ग पर विचरण करेंगे उनको दण्ड देनेवाला ईश्वर है। स भगवान् ने उनके विषय में गीता में इस प्रकार कहा है—"मैं न द्वेषी, क्रूर, अशुभ, नराधमों को संसार तथा आसुरी योनियों में सदा के लिये डाल देता हूँ।"

पुरुष—(कौतुक के साथ) दे देवि ! तुम्हारी कृपा से मैं जानना चाहता हूँ कि यह ईश्वर कौन है ?

उपनिषद्—(क्रोध के साथ) अपने को न जाननेवाले अन्धे को भला कौन प्रत्युत्तर देगा ?

पुरुष—(हर्ष से) तो क्या मैं आत्मा, पुरुष, परमेश्वर हूँ ?

उपनिषद्—बात तो यही है। क्योंकि—

॥ छन्द ॥

सो ईश है न तुमसे कुछ भिन्न, अन्य।
हो देव से न तुम भिन्न, सदा अनन्य॥
माया उसे कर रही तुमसे सुभिन्न।
ज्यों सूर्य्य-बिम्ब जल दर्शित हो विभिन्न ॥२५॥

पुरुष—(विवेक के प्रति) भगवन् ! भगवती के अर्थ बतलाने पर भी मैं सम्यक् नहीं समझता—

॥ दोहा ॥

अवछिन्न औ भिन्न जो, जरा-मरण का रूप।
उस मुझको देवी कहैं, सत्यानन्द-स्वरूप ॥२६॥

विवेक—पदार्थ का ज्ञान नहीं होने से वाक्यार्थ का ज्ञान न होता। आपने जो कहा सो अवश्य सत्य है।

पुरुष—तो उसके ज्ञान के लिये भगवान् कोई उपाय बतलावें

विवेक—इस प्रकार कहा है—

॥ राग—रामकली ॥

सोऽहम् अविगत अपार, अपर हूँ न, हृदय धार,
सब उपाधियाँ निवार विघ्न-कारिणी।
ब्रह्म और जीव बीच, अखिल आत्म-बुद्धि खींच,
पाय के सुबोध-सुमति, विमति-वारिणी॥
तत् त्वम् असि वाणि विशद, भंजन भव-विपुल-विपद,
शान्ति-सुखद, अगद, श्रवण कर सु-तारिणी।
नाश नर भवान्धकार, पा प्रमोद का प्रसार,
पावे ज्योति शान्त, स्व-प्रकाश-धारिणी॥२७॥

पुरुष—(आनंद-पूर्वक श्रवण किये हुए अर्थ को मनन करता है)

(निदिध्यासन का प्रवेश)

निदिध्यासन—भगवती विष्णु-भक्ति की आज्ञा है कि—"उपनिषद् औ विवेक पर हमारे इस परम गूढ़ अभिप्राय को प्रकट करो और तुम पुरुष में निवास करो।" (देखकर) यह देवी विवेक और पुरुष के निकट ही बैठी हुई है। तो समीप चलूँ। (समीप जाकर उपनिषद् के प्रति एकान्त में) देवी विष्णु-भक्ति

का आदेश है कि "देवता-संकल्प-मात्र से उत्पन्न होते हैं। मैंने योग-बल से जान लिया है कि आप गर्भवती हैं। वहाँ आप के उदर में क्रूर-स्वभाववाली विद्या नाम की कन्या प्रबोधोदय को कतर रही है। सो सङ्कर्षण-विद्या द्वारा विद्या को मन के अभ्यन्तर रख और प्रबोध-चन्द्र को पुरुष में प्रविष्ट कर वत्स विवेक के साथ आप मेरे समीप पधारें।"

उपनिषद्—देवी की जो आज्ञा। (विवेक को लेकर जाती है)

(निदिध्यासन का पुरुष में प्रवेश)

पुरुष—(ध्यान नाट्य करता है)

(नेपथ्य में—आश्चर्य ! आश्चर्य !)

॥ *लीलावती* ॥

उद्दाम प्रभा से, तड़ित-विभा के सदृश जग को चमकाती।
मन का वक्षस्थल, निज विक्रम-बल, छेद-भेद तन भमकाती॥
कामादिक अनुचर सह कवलित कर मोह प्रखर को यह देखो !
कन्या अन्तर्हित, पुरुष सुप्रापित पुण्य प्रबोधोदय पेखो !! ॥२८॥

(प्रबोधोदय का प्रवेश)

प्रबोधोदय—

॥ वीर ॥

क्या है प्राप्त और बाधित क्या ? उदित और क्या अस्त लखाय ? ।
क्या उपजाया और बिलाया ? है क्या औ क्या नहीं दिखाय ? ॥
जिसके समुदित हुए कुतर्क-वितर्क-समूह समूल नशाय।
सो त्रिभुवन का सहज शमन हो, प्रकट प्रबोधोदय वह आय ! ॥२६॥

(घूम कर)—यही पुरुष हैं। तो पास चलूं। (पास जाकर भगवन्! मैं, प्रबोध-चन्द्रोदय, आप को प्रणाम करता हूँ।

पुरुष—(आनन्द के साथ) पुत्र! आओ। भर अङ्क मिलो।

(प्रबोधोदय वैसा ही करता है)

पुरुष—(आनन्द से) अहा! अन्धकार का आवरण दूर हुआ, प्रभात प्रादुर्भूत हुआ। क्योंकि—

॥ विष्णुपद ॥

मोह-तिमिर को मिटा, हटा भ्रम-निद्रा नित दुखदा,
प्रकटा परम प्रबोध-चन्द्र, जिसकी ज्योत्स्ना सुखदा,
श्रद्धा, शान्ति, विवेक यमादिक का वर विक्रम पा,
विश्व-रूप हो, विष्णु हुआ मैं-मम प्रकाश चमका! ॥३०

भगवती विष्णु-भक्ति की अनुकम्पा से मैं सर्वथा कृतकृत्य हुआ, इस समय मुझे तो—

॥ शंकर ॥

संग किसी का नहीं, न करना प्रश्न कदापि एक।
फल के तर्क विना ही भ्रमना, दिशा-दिशा अनेक॥
शान्त और भय-शोक-मोह-कटु-विष-कषाय-विहीन।
नित्य-मुक्त मुनि सत्वर हूँगा, सकल संसृति-हीन ॥३१॥

(विष्णु-भक्ति का प्रवेश)

विष्णु-भक्ति—(सहर्ष समीप आकर) चिरकाल के उपरान्त मेरे सर्व मनोरथ सम्पूर्ण हुए। इसी से तो अपने शत्रु--शमन पश्चात् आप का अवलोकन कर रही हूँ।

पुरुष—देवी विष्णु-भक्ति के प्रसाद से भला कौन सा पदार्थ दुर्लभ है ?

(चरणों पर गिरता है)

विष्णु-भक्ति—(पुरुष को उठाती है) वत्स ! उठो। मैं कौन सा अपर प्रिय पुरस्कार तुमको दूँ ?

पुरुष—क्या कोई इससे भी प्रिय पदार्थ है ? क्योंकि—

॥ दोहा ॥

अरि को जीत विवेक अब, अति कृतकृत्य सुधन्य ।
नीरज नित्यानन्द में, मैं भी मग्न अनन्य ॥३२॥

तथापि ऐसा हो—

(भरत वाक्य)—

॥ घनश्याम ॥

सुमेघ अभीष्ट वृष्टि करें जग में नित ही !
विहीन-अरिष्ट भूप मही परिपाल सही !
स्व-ज्ञान-प्रकाश नष्ट-अज्ञान महान करें !
कृपा तव मोह-पंक-भरा भव-सिन्धु तरें ! ॥

(सब जाते हैं)

❀ इति ❀

लेखक की

अन्य पुस्तकें, जो इस समय मिल सकती हैं—

हिन्दू-सभ्यता	.. ..	१)
जातक-माला	.. ..	।।।)

पता—

महेश चन्द्र प्रसाद, एम.ए.

देवाश्रम, आरा, (इ. आइ. आर.)

MAHESH CHANDRA PRASAD, M.A.

DEVASRAM, ARRAH, E.I.R.